TEERTHANKER MAHAVEER UNIVERSITY

TMU

MORADABAD

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

सम्यक् दर्शन • सम्यक् ज्ञान • सम्यक् चारित्र

Accredited with NAAC A Grade

12-B Status from UGC

Jeevan Vigyan Sidhant

BAJSCC101

CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

Accredited with NAAC A Grade

12-B Status from UGC

JEEVAN VIGYAN SIDHANT
(BAJSCC101)

REVIEW COMMITTEE

Prof. Dr. Manjula Jain
Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Vipin Jain
Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Amit Kansal
Associate Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Manoj Rana
Jt - Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

PROGRAMME COORDINATOR

Dr. Manjula Jain
Professor
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

BLOCK PREPARATION

Dr. Aditya Jain
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Secretarial Assistance and Composed By:
Mr. Namit Bhatnagar

COPYRIGHT	:	Teerthanker Mahaveer University
EDITION	:	2024 (Restricted Circulation)
PUBLISHED BY	:	Teerthanker Mahaveer University, Moradabad

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
इकाई–1 (क)	**भारतीय संस्कृति**	**01—13**
	◦ संस्कृति : स्वरूप	
	◦ सांस्कृतिक संकट के कारण	
	◦ संस्कृति सुरक्षा के प्रयास	
	◦ संस्कृति सुरक्षा के उपाय	
इकाई–1 (ख)	**जीवन विज्ञान : उद्भव एवं विकास**	**14—23**
	◦ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	
	◦ जीवन विज्ञान : स्वरूप	
	◦ जीवन विज्ञान : प्रविधियाँ	
	◦ जीवन विज्ञान : मूल अंग	
इकाई–2 (क)	**जीवन विज्ञान एवं उसका अन्य विद्या शाखाओं से सम्बन्ध**	**24—35**
	◦ जीवन विज्ञान और भौतिक विज्ञान	
	◦ जीवन विज्ञान और जीव विज्ञान	
	◦ जीवन विज्ञान और शरीर विज्ञान	
	◦ जीवन विज्ञान और समाज विज्ञान	
	◦ जीवन विज्ञान और दर्शन शास्त्र	
	◦ जीवन विज्ञान और नीति शास्त्र	
	◦ जीवन विज्ञान और मनोविज्ञान	
	◦ जीवन विज्ञान और पर्यावरण विज्ञान	
इकाई–2 (ख)	**जीवन विज्ञान की उपयोगिता**	**36—48**
	◦ व्यक्तित्व विकास में जीवन विज्ञान	
	◦ शिक्षा में जीवन विज्ञान	
	◦ प्रशासन में जीवन विज्ञान	
	◦ चिकित्सा में जीवन विज्ञान	
	◦ सामाजिक जीवन में जीवन विज्ञान	
	◦ उद्योग में जीवन विज्ञान	
इकाई–3 (क)	**अनेकान्त**	**49—56**
	◦ अनेकान्त : स्वरूप	
	◦ अनेकान्त के आधारभूत तत्त्व	
	◦ सप्रतिपक्ष, सह–अस्तित्व	
	◦ सापेक्षता, स्वतन्त्रता, समन्वय	
	◦ अनेकान्त और अहिंसा	

इकाई–3 (ख) **अनेकान्त के व्यावहारिक प्रयोग** **57—70**
◦ परिवार और अनेकान्त
◦ समाज और अनेकान्त
◦ अर्थनीति और अनेकान्त
◦ राजनीति और अनेकान्त
◦ विश्वशांति और अनेकान्त
◦ लोकतन्त्र और अनेकान्त

इकाई–4 (क) **अहिंसा का सिद्धान्त** **71—82**
◦ अहिंसा का स्वरूप, अर्थ एवं परिभाषा
◦ विभिन्न धर्मों में अहिंसा
◦ जीवनशैली और अहिंसा
◦ अहिंसा और आहार
◦ अहिंसा और आसन
◦ हिंसा : मानसिक तनाव और नशा

इकाई–4 (ख) **अहिंसा : नि:शस्त्रीकरण और शान्ति** **83—96**
◦ नि:शस्त्रीकरण— शस्त्र परिसीमन
◦ युद्ध और अहिंसा
◦ अहिंसात्मक प्रतिरोध
◦ पर्यावरण और अहिंसा
◦ अहिंसा–प्रशिक्षण

इकाई–5 (क) **व्रत : स्वरूप, अणुव्रत और समाज कल्याण** **97—105**
◦ व्रत : स्वरूप
◦ व्रत : महत्त्व
◦ अणुव्रत : स्वरूप
◦ वर्तमान समाज एवं प्रतिरोधात्मक शक्ति

इकाई–5 (ख) **अणुव्रत आन्दोलन** **106—122**
◦ अणुव्रत आन्दोलन : स्वरूप
◦ अणुव्रत : महत्त्व एवं प्रासंगिकता
◦ स्वस्थ समाज रचना का आधार : अणुव्रत

इकाई-1 (क) भारतीय संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 संस्कृति : स्वरूप
  1.2.1 संस्कृति : अर्थ
  1.2.2 संस्कृति और सभ्यता में अन्तर
  1.2.3 भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ
1.3 सांस्कृतिक संकट के कारण
1.4 संस्कृति सुरक्षा के प्रयास
  1.4.1 ब्रह्म समाज
  1.4.2 आर्य समाज
  1.4.3 रामकृष्ण मिशन
  1.4.4 गाँधी के प्रयास
  1.4.5 आचार्य तुलसी कृत प्रयास
1.5 संस्कृति सुरक्षा के उपाय
  1.5.1 अध्यात्म विद्या
  1.5.2 योग
  1.5.3 संस्कृति शिक्षण और प्रशिक्षण
  1.5.4 जीवन विज्ञान

1.0 उद्देश्य

'भारतीय संस्कृति' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- संस्कृति किसे कहते हैं, समझ सकेंगे।
- संस्कृति और सभ्यता में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे।
- भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को जान पाएँगे।
- सांस्कृतिक संकट के कारणों को विश्लेषित कर सकेंगे।
- संस्कृति-सुरक्षा के लिए किन-किन महान् विभूतियों ने प्रयास किया, जान पायेंगे।
- संस्कृति-सुरक्षा के लिए निर्दिष्ट उपायों को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी के शब्दों में "किसी भी राष्ट्र के अस्तित्व का मौलिक आधार उसकी भौगोलिक सीमाएँ नहीं अपितु उसकी संस्कृति है। संस्कृति से कटकर किसी भी राष्ट्र को परिभाषित नहीं किया जा सकता। संस्कृति एक प्रवाह है। वह चलता रहे, तब तक ठीक है।" विश्व मानचित्र पर अनेक संस्कृतियों का उदय हुआ और समय के साथ अनेक संस्कृतियाँ अस्त हो गईं पर भारतीय संस्कृति अमिट है क्योंकि इस संस्कृति की सरिता निरन्तर प्रवाहित होती रही हैं। निरन्तरता इसकी विलक्षणता है। इस विलक्षणता की पृष्ठभूमि में शाश्वत मूल्यों का हाथ है, वे शाश्वत मूल्य हैं— अध्यात्म, अहिंसा, समन्वय, सहिष्णुता आदि।" वर्तमान काल में भारतीय संस्कृति पर बाह्य प्रभाव बढ़ता हुआ नजर आ रहा है। इसे रोकने के लिए शाश्वत मूल्यों को नई पीढ़ी में हस्तान्तरित करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी

वस्तु सत्य को ध्यान में रखते हुए जीवन विज्ञान में भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया जा रहा है। इस इकाई में संस्कृति किसे कहते हैं? इसके संकट के कारण एवं निवारण के उपायों पर चर्चा करेंगे।

1.2 संस्कृति स्वरूप

1.2.1 संस्कृति : अर्थ

किसी भी देश की संस्कृति के अध्ययन से पूर्व यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि संस्कृति किसे कहते हैं? यह प्रश्न जितना आवश्यक है उतना ही कठिन है। प्रकृति प्रत्यय के आधार पर यह सत्य है कि संस्कृति और संस्कार का एक ही अर्थ है किन्तु आधुनिक युग में संस्कृति का प्रयोग उस अर्थ में नहीं होता। शब्दकोश में संस्कृति के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। शाब्दिक रूप से संस्कृति शब्द की उत्पत्ति 'संस्कृत' शब्द से हुई है। संस्कृत भाषा में सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति शब्द का अर्थ होता है ''परिष्कृत कार्य'' अथवा ''उत्तम या सुधरी हुई स्थिति।'' वस्तुत: यह शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों और उनके परिष्कार का द्योतक है। व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनने में जितने भी तत्त्वों का योगदान होता है उन सभी तत्त्वों की व्यवस्था का नाम संस्कृति है।

वृहद् हिन्दी कोश में संस्कृत शब्द का अर्थ पवित्रीकरण, सजावट, निश्चय, उद्योग, आचरणगत, परंपरा आदि दिये हैं। भाषा शब्दकोष में संस्कृत शब्द शुद्धि, सफाई, सुधार, संस्कार, सजावट, सभ्यता, परिष्कार इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में—'संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। यह एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य के स्वभाव में उसी तरह व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग-युगान्तर में होता है।'

मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार—'विश्व में जो कुछ उत्तमोत्तम कहा या जाना गया है उससे स्वयं को भिज्ञ कराना ही संस्कृति है।'

आचार्य तुलसी के शब्दों में संस्कृति तो मांजने को कहते हैं, जिसके द्वारा जीवन तथा जीवन की पद्धति का संस्कार एवं परिमार्जन होता है।

1.2.2 संस्कृति और सभ्यता में अन्तर

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है और सामूहिक रूप से ही अपनी समृद्धि एवं उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। अत: उसके लिए यह प्रश्न बड़े महत्त्व का था कि वह समूह में रहते हुए अपने साथ व अन्य व्यक्तियों के साथ क्या सम्बन्ध रखे। उसने बुद्धि द्वारा इस प्रश्न पर विचार किया और धीरे-धीरे उन सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का विकास किया, जिन पर उसका हित और कल्याण अनेक अंशों में निर्भर रहता है। परिवार, कबीला, राज्य आदि जिन विविध संस्थाओं का मनुष्य ने विकास किया, वे सब उसके सामाजिक और सामूहिक जीवन को ही अभिव्यक्त करते हैं। अपने सामूहिक जीवन पर बुद्धिपूर्वक विचार करने के कारण ही मनुष्य राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों का विकास करने में समर्थ हुआ। प्रकृति के विविध तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है पर उसका सन्तोष केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा ही नहीं होता। वह अपने जीवन को अधिक सरस और सौन्दर्यमय बनाने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह संगीत, साहित्य और कला का अनुसरण करता है तथा इन्हें भलीभांति उन्नत कर अपने जीवन को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न करता है। **मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को 'संस्कृति' कहते हैं।**

इतिहासकारों का मत है, शुरू में मनुष्य अन्य पशुओं के समान जंगल में रहा करता था। उस समय वह न वस्त्र पहनता था और न ही अपने निवास के लिए मकानों का निर्माण करता था। धीरे-धीरे इस दिशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ। मनुष्य शिकार के लिए न केवल पत्थरों का अपितु औजारों का प्रयोग करने लगा। पशुपालन शुरू किया। खेती शुरू हुई। वह विविध प्रकारों के कपड़ों का निर्माण करने लगा और आज वह समय आ गया जब मनुष्य गगनचुम्बी भवनों में निवास करता है, विद्युत शक्ति का उपयोग करता है और वैज्ञानिक साधनों व यान्त्रिक उपकरणों द्वारा बहुत बड़े परिमाण में अन्न, वस्त्र व अन्य वस्तुओं का निर्माण करता है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों, तत्त्वों और शक्तियों का उपयोग कर मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसी को हम 'सभ्यता' (सिविलाइजेशन) कहते हैं। मनुष्य की

यह भौतिक उन्नति धीरे-धीरे हुई है। पत्थर के भद्दे व मोटे औजारों का प्रयोग शुरू कर मनुष्य अब इस स्थिति में पहुँच गया है कि वह धातुओं का और विद्युत तथा परमाणु शक्ति आदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करने लगा है। इतिहास का अध्ययन करने वाले मनुष्य की इस आश्चर्यजनक उन्नति पर विचार करते हैं और उन विभिन्न दशाओं का विवेचन करते हैं, जिनमें से होते हुए मानव सभ्यता ने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया है। **भौतिक क्षेत्र में मनुष्य निरन्तर उन्नति कर रहा है। भौतिक क्षेत्र में होने वाली इसी उन्नति को हम सभ्यता कहते हैं।**

अत: यह कहा जा सकता है कि संस्कृति बिम्ब है और सभ्यता उसका प्रतिबिम्ब। संस्कृति कारण है तो सभ्यता उसका कार्य। संस्कृति ही सभ्यता की जननी है। दोनों में जन्यजनक भाव है।

अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस ढंग से प्रयोग करता है, उससे उसकी 'सभ्यता' का निर्माण होता है। पर चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम 'संस्कृति' के रूप में प्राप्त होता है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया, साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं व संस्थाओं को विकसित किया — उन सबका समावेश 'संस्कृति' में किया जाता है। सभ्यता और संस्कृति का यह महत्त्वपूर्ण भेद है।

1.2.3 भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भारत का इतिहास प्रारम्भ हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस देश की सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में गिनी जाती है। वेद दुनिया के सबसे प्राचीन साहित्य हैं। संसार की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ इस समय नष्ट हो चुकी हैं। मिस्त्र, असीरिया, बैबीलोनिया आदि के तो अब केवल नाम ही बचे हैं। मिस्त्र के वर्तमान निवासियों का संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, जिन्होंने नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था और जिन्होंने अपने पितरों की 'ममी' बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। यही बात असीरिया, बैबीलोनिया आदि सभ्यता के अनरूप प्राचीन केन्द्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। मिस्त्र और असीरिया की सभ्यताएं काल की दृष्टि से भारतीय सभ्यता के समान ही प्राचीन थी पर उनके भी बहुत समय बाद यूनान और रोम की जो सभ्यताएँ विकसित हुई, वे भी अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन यूनानी व रोमन धर्मों का अनुयायी कोई नहीं है। जो विचारधारा प्राचीन रोमन लोगों को देवी-देवताओं और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, वह आज के रोमन (इटालियन) लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखती। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक कायम है।

भारत में अब भी वैदिक धर्म है। इस देश के पुरोहित व ब्राह्मण आज भी वेद-मन्त्रों द्वारा यज्ञ-कुण्ड में आहुति देकर देवताओं व प्राकृतिक शक्तियों को तृप्त करते हैं। उपनिषद और गीता ने ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी अबाधित रूप से इस देश में बह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भावना का जो उपदेश दिया था, वह आज तक भी इस देश में जीवित है। यहाँ की स्त्रियों का आदर्श आज भी बीसवीं सदी की सीता, सावित्री और पार्वती हैं।

इस भारतीय संस्कृति का विश्व की अन्य संस्कृतियों के मध्य कैसा स्थान है? इस प्रश्न का उत्तर खोजने पर इसमें कतिपय ऐसी विलक्षणताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृतियों में सर्वोच्च पद की अधिकारिणी बना दिया है।

1. सर्वाधिक प्राचीन- विश्व की उपलब्ध सभी संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति प्राचीनतम है। मिश्र की संस्कृति सम्भवत: इसकी समकालीन थी किन्तु आज मिस्त्र की संस्कृति का नाम मात्र अवशिष्ट रहा है। भारतीय वाङ्मय के वेद तो विश्व वाङ्मय के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ हैं ही, सिन्धु घाटी की खुदाई से प्राप्त अवशेषों के साक्ष्य से यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि यूरोप, रूस, अमेरिका, आदि की संस्कृतियों के जन्म से भी बहुत पूर्व भारतीय संस्कृति अपनी पूर्ण परिपुष्ट अवस्था में विद्यमान थी। वर्तमान युग में चीन के अतिरिक्त अन्य कोई देश इससे तुलनीय नहीं है।

2. अक्षुण्ण प्रवाह – विभिन्न युगों में अनेक परिवर्तनों के हो जाने पर भी इसने अपने मौलिक स्वरूप को नहीं त्यागा और आज तक भी क्रियाशील बनी हुई है। अनेक सहस्त्राब्दियाँ व्यतीत हो चुकीं किन्तु सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी पूर्व प्रारम्भ हुई भारत भूमि की इस संस्कृति की परम्परा आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। विभिन्न क्षेत्रों में इसके प्रबल प्रमाण हैं। भाषा के क्षेत्र में संस्कृत आज भी विद्वद् समाज में उसी प्रकार लिखी, पढ़ी और बोली जाती है जैसे पाणिनी के समय में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व लिखी, पढ़ी जाती थी। वेदमन्त्र, उपनिषद्,

गीतादर्शन आदि आज भी भारत मे अत्यधिक मान्य हैं। धार्मिक क्षेत्र में राम और कृष्ण, ब्रह्मा और शिव सहस्रों वर्ष पूर्व की भाँति आज भी परम पूज्य और प्रात: स्मरणीय हैं। सम्पूर्ण भारतखण्ड के विभिन्न प्रदेशों को सिंचित करके भूमि को उर्वर बना देने वाली गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी, नर्मदा, सिन्धु आदि प्राचीन नदियाँ आज भी पवित्र ही मानी जाती हैं। मनुष्य के विभिन्न संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले वेदविहित जो मन्त्र गृह्यसूत्रों में पूर्णतया विकसित और व्याख्यायित होकर समाज में स्थापित हुए थे, सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी सम्पूर्ण भारतवर्ष में विभिन्न संस्कारों के समय उन्हीं मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। बाह्य आक्रमणकारियों का भी इस संस्कृति पर प्रभाव पड़ता रहा किन्तु भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व इतने अधिक प्रबल थे कि न तो समय उन्हें उखाड़ कर फेंक सका और न ही बाह्य प्रभाव उसे नष्ट कर सके।

3. समन्वयभाव तथा विचार सहिष्णुता – विविध सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता तथा सम्मान का भाव भारतीय संस्कृति का अपूर्व तत्त्व है। अन्य संस्कृतियों में भगवान् के रूप में पूज्य, आराध्यदेव एक ही हैं किन्तु भारत में आराध्यदेवों की सम्पूर्ण परिगणना कर सकना ही सम्भव नहीं है। मनुष्य की विविधात्मक प्रवृत्ति को परिलक्ष्य करके ही ऋषि ने ऋग्वेद में सभी देवताओं को एक ही परमब्रह्म के विविध रूप घोषित कर दिया था।

भारतीय संस्कृति की विशिष्टता उसकी सहनशीलता में है। विश्व की अन्य संस्कृतियों ने अपने ही देश में पनपने वाली नवीन प्रवृत्तियों को सहन नहीं किया। इसी कारण सुकरात को विषपान करना पड़ा और ईसा को भी मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा। किन्तु भारतीय संस्कृति ने विभिन्न प्रवृत्तियों और प्रभावों को सहर्ष सहन कर लिया। इस संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को विचार, धर्म एवं विश्वास की स्वतन्त्रता दी।

भारतीय संस्कृति की वैचारिक सहिष्णुता की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति सम्राट अशोक के बारहवें शिलालेख में हुई है—'लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह अपने सम्प्रदाय को क्षति पहुँचाता है और दूसरे सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। सभी सम्प्रदाय वाले विद्वान् होते हैं और कल्याण का कार्य करते हैं।'

4. ग्रहणशीलता– भारतीय संस्कृति के सहिष्णुता वैशिष्ट्य के कारण इसमें ग्रहणशीलता की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो गई और इस ग्रहणशीलता के कारण ही भारतीय संस्कृति निरन्तर सजीव और सक्रिय बनी रही। भारतीय संस्कृति ने विभिन्न नई प्रवृत्तियों एवं बाह्य प्रभावों को केवल सहन ही नहीं किया अपितु उन देशी अथवा विदेशी नवीन तत्त्वों को आत्मसात् करके अपना अंग भी बना लिया। इसी कारण भारतीय संस्कृति ने अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक अपने संपर्क में आने वाली द्राविड़, यूनानी, सीथियन, मुगल, ईसाई— सभी संस्कृतियों के विभिन्न सुन्दर अंशों को ग्रहण कर लिया। वैदिक युग में प्रकृति गत तत्त्व– इन्द्रादि प्रमुख देव थे, तो परवर्ती युग में द्रविड़ प्रभाव से शिव प्रमुख देवता बन गए। वस्तुत: जो भी प्रथा, संस्था अथवा व्यवस्था उत्पन्न होकर भारत में एक बार ग्रहण कर ली गई, वह फिर नष्ट नहीं हुई। भारतीय संस्कृति ने उसे अपना अंग बना लिया। 'भारतीय संस्कृति एक महासमुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियाँ आ–आकर विलीन होती रही हैं।' प्रोफेसर हुमायूँ ने ग्रहणशीलता के इसी गुण को परिलक्षित करके ठीक ही कहा है—'भारतीय संस्कृति की कहानी एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानकों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है।'

5. अनुकूलता एवं परिवर्तनशीलता – भारतीय संस्कृति में समय के अनुसार ढल जाने की अद्भुत क्षमता है। इस संस्कृति में आश्चर्यजनक लचीलापन है। इसी कारण यह संस्कृति बाह्य आघातों से टूटी अथवा नष्ट नहीं हुई। जीवशास्त्र का यह सर्वमान्य नियम है कि वही प्राणी दीर्घजीवी होता है जो अपने को समय और परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित कर लेता है। विश्व की अनेक संस्कृतियाँ विदेशी आक्रान्ताओं से पददलित होकर लुप्त हो गई किन्तु भारतीय संस्कृति अपने अनुकूलता गुण के कारण विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवित बनी रही।

समय के प्रवाह में भारत की विभिन्न परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रहीं। इन परिवर्तनों के कारण भारतीय धर्म, समाज, आचार–विचार, विधि, निषेध, नियम आदि की स्थिति में भी सूक्ष्म परिवर्तन तो आता रहा किन्तु सम्पूर्ण स्वरूप कभी नष्ट नहीं हुआ। उदाहरण के रूप में भारतीय संस्कृति के प्रारम्भ में धर्म यज्ञ प्रधान था किन्तु कालान्तर में भक्ति प्रधान हो गया। इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था मूलत: कर्मप्रधान थी किन्तु शनै: शनै: जन्ममूलक हो गई। मुगलों एवं अंग्रेजों के दीर्घकालीन शासन में पराधीन रहकर भारतीय सभ्यता में तो पर्याप्त परिवर्तन आया। भाषा, वेषभूषा, रहन–सहन आदि में पर्याप्त परिवर्तन हुए किन्तु इस सम्पूर्ण परिवर्तन में भी भारतीय समाज और धर्म के आदर्श वही रहे जो प्रारम्भ में थे।

6. आध्यात्मिकता – अध्यात्म और दर्शन परस्पर जुड़े हुए हैं इसीलिए समस्त भारतीय चिन्तन पर आध्यात्मिकता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार —''किसी भी संस्कृति की श्रेष्ठता का मापक उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है। जिस संस्कृति के आध्यात्मिक विचार जितने अधिक गहन होते हैं, वह संस्कृति इतिहास में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।'' भारतीय संस्कृति ने इहलौकिक सुखों को जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार नहीं किया अपितु इस नश्वर देह व भौतिक सुखों की अपेक्षा ब्रह्म, जीव, माया, ईश्वर, मोक्ष आदि के विचार को ही प्रमुखता दी। भारत में शस्त्रबल की अपेक्षा तपस्या को, धूर्तता की अपेक्षा सत्य को, तथा धन की अपेक्षा धर्म को अधिक श्रेयस्कर माना गया। क्षत्रिय वर्ण को युद्ध का अधिकार तो दिया गया किन्तु वह अधिकार आत्मरक्षा अथवा आर्तत्राण के लिए था, स्वार्थ साधने के लिए नहीं। परपीड़न सदैव ही भारत में निन्दित रहा। इसी अध्यात्म भावना के कारण यहाँ सामान्य प्रवृत्ति अन्तर्मुखी बनी।

7. सर्वांगीणता – मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में उसके सर्वांगीण विकास की क्रमबद्ध सुचारु योजना प्रस्तुत कर सकना भारतीय संस्कृति का परम वैशिष्ट्य है। मानव की जितनी भी विभिन्न प्रकार की क्षमताएँ हैं, सभी के समुचित विकास का पूरा ध्यान इस संस्कृति ने रखा। विश्व की अन्य संस्कृतियों में मानव के एकांगी विकास पर ही बल दिया गया है किन्तु भारतीय संस्कृति ने इहलोक और परलोक दोनों को सिद्ध करने के लिए मनुष्य के भौतिक, आध्यात्मिक, शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के विकास पर तुल्य बल दिया है। पुरुष के करणीय समस्त कर्त्तव्यों को चार पुरुषार्थों— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

8. संचरणशीलता – मनुष्य को निरन्तर कर्मरत रहकर उत्साहपूर्ण रहने की जितनी प्रेरणा भारतीय संस्कृति ने दी है उतनी अन्य किसी संस्कृति ने नहीं। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करके किसी भी सरल अथवा दुर्लंघ्य बाधा को पार करने के उत्साह, ओजस्विता एवं महाप्राणता का मन्त्र भारतीय संस्कृति ने ही दिया। निष्क्रिय होकर बैठ जाना मृत्यु है और निरन्तर कर्म करते रहना ही जीवन है। उपनिषदों में निरन्तर क्रियाशील रहने के लिए अत्यन्त सुन्दर रूपक उपलब्ध होता है– 'सोता हुआ व्यक्ति कलिकाल है, निद्रा समाप्त कर जंभाई लेता हुआ द्वापर युग है, आलस्य त्याग कर उठता हुआ व्यक्ति त्रेता समय है और चलता हुआ ही सत्युग कहलाता है इसलिए निरन्तर चलते रहो, चलते ही रहो।'

9. आशावाद – भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता है आशावादी होना। जीवन में अनेक विपत्तियाँ, बाधाएँ आती हैं किन्तु उन सभी को पार करके अपना लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, अपना अभीष्ट सिद्ध किया जा सकता है। आशा का यह स्वर्णिम तार भारतीय संस्कृति में सर्वत्र अनुस्यूत है। इस संस्कृति में निराशा के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। आशा ही प्रकाश है, स्पृहणीय है। निराशा तो घनघोर अन्धकार है जो विवेक को आवृत्त कर देता है। अत: निराशा सर्वथा त्याज्य है।

10. आस्था एवं कर्मवाद – भारतीय संस्कृति ने सम्पूर्ण विश्व को आस्था और कर्मवाद का जो अपूर्व मन्त्रदान दिया है, उसकी तुलना अन्य किसी संस्कृति में नहीं है। अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए निरन्तर कर्म करने की प्रेरणा विश्व के सभी धर्मों, दर्शनों एवं संस्कृतियों में है किन्तु प्रयोजन सिद्ध न होने पर भी निस्पृह भाव से कर्म करते रहने की योजना भारतीय संस्कृति का ही वैशिष्ट्य है। उपनिषदों में ऋषि ने उच्च स्वर में उद्घोष किया था कि निरन्तर कर्म करते हुए ही मनुष्य को शतायु होने की कामना करनी चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने इसी मूलमन्त्र को और स्पष्ट करते हुए अनासक्त कर्मयोग का सुन्दर प्रतिपादन किया। तदनुसार मनुष्य को कर्म करने मात्र का अधिकार है। उस कर्मफल की प्राप्ति में मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य को अपने किए हुए कर्म के फल की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। यदि मनुष्य के हृदय में कर्मफल की इच्छा होती है तो वह आसक्ति के बन्धन से मुक्त भी नहीं हो पाता और मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख भी नहीं होता। कर्म करते हुए न तो उसमें कोई रागद्वेष रखना चाहिए और न ही स्वयं को उस कर्म का हेतुरूप समझना चाहिए। यही अनासक्त कर्मयोग है। इस कर्मवाद का सहज परिणाम अटूट आस्था है। जब कर्म के फल में आसक्ति ही नहीं होगी, तो विफल होने पर खिन्नता और हताशा भी नहीं होगी और मानव–मन की आस्था अक्षुण्ण बनी रहेगी। यदि मनुष्य में आस्था बनी रहे तो मन में उत्साह भी रहता है और कर्म की ओर प्रवृत्ति भी रहती है। इस प्रकार निरन्तर कर्म और आस्था का यह तत्त्व भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

11. अवतारवाद – भारतीय संस्कृति में अवतारवाद एक महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट तत्त्व है। कोई भी धर्म युगानुरूप सुधारों के अनुकूल ही किंचित् परिवर्तित होता जाता है। भारतीय विश्वास के अनुसार संसार में अत्याचार एवं अन्याय का नाश करने के लिए और धर्म की पुन: स्थापना करने के लिए समय–समय पर महापुरुष जन्म लेते हैं और संस्कृति तथा धर्म की रक्षा करते हैं। ऐसे महापुरुष स्वभावत: ही जनता की श्रद्धा और प्रेम के पात्र बन जाते हैं। भारतीय धर्मग्रन्थों और साहित्यकारों ने इन्हीं महापुरुषों को भगवान का अवतार मान लिया।

अवतारवाद की यह परिकल्पना तर्क से नितान्त परे केवल श्रद्धा और भक्ति पर आधारित है फिर भी अवतारवाद का स्थान भारतीय संस्कृति में विशिष्ट ही है।

12. विश्वकल्याण एवं विश्वबन्धुत्व की भावना – भारतीय संस्कृति में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि को महत्त्व दिया गया। इस संस्कृति का दृष्टिकोण विशुद्ध मानवतावादी है। घर, समाज, प्रदेश, देश सारी ही सीमाओं को लांघकर मनुष्यमात्र की अथवा जीवमात्र की सहायता करना, रक्षा करना तथा कल्याण की भावना रखना भारतीय संस्कृति की निजी विशेषता है। सब सुखी हों, सभी स्वस्थ रहें– यही भारतीय संस्कृति का उद्घोष है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग् भवेत्॥

केवल मनुष्य ही नहीं अपितु पशु–पक्षियों तक के निरन्तर कल्याण की दृष्टि से पंचयज्ञों में भूतयज्ञ भी सम्मिलित किया गया। जिससे प्रतिदिन पशुपक्षियों के प्रति भी मनुष्य सहृदय बना रहे और उनका पोषण करता रहे।

सभी जीवों के कल्याण की कामना के साथ–साथ सभी में परस्पर सौहार्द एवं बन्धुत्व का प्रतिपादन भी भारतीय संस्कृति ने किया —

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

जब सारा संसार ही आत्मीय है तो कोई भी अपने लिए अनुचित माना जाने वाला आचरण दूसरों के प्रति क्यों करें? 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' विश्वकल्याण व विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत होकर ही हमारी इस भारतीय संस्कृति ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का बीजमन्त्र दिया। यही वह कमनीय भावना है, जिससे भावित होने पर ही विश्व शान्ति सम्भव है। भारतीय संस्कृति ने सदैव संकुचित विचारधारा और स्वार्थों से ऊपर उठकर विश्वकल्याण और सम्पूर्ण मानवता की सेवा पर बल दिया।

13. त्याग–भाव – भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता है— त्याग भावना। आज विश्व में अन्य जितनी संस्कृतियाँ परिलक्षित होती हैं, उनमें त्याग को वह समादर प्राप्त नहीं हो सका, जो भारतीय संस्कृति में मिला। मनुष्य मात्र में स्वार्थ की प्रवृत्ति जितनी सहज है, संग्रह की लालसा भी उतनी ही स्वाभाविक है। मनुष्य दूसरे के लिए अपनी आवश्यकता को न्यौछावर कर सके, कभी दूसरे की वस्तु का लोभ न करे, यह पाठ भारतीय संस्कृति ने ही पढ़ाया। सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय त्याग के विभिन्न उदाहरणों से भरा पड़ा है। शिवि, दधीचि, कर्ण आदि अपनी त्याग भावना के कारण ही अमर, यशस्वी हुए।

बोध प्रश्न–1

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

1. संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करते हुए संस्कृति और सभ्यता में अन्तर स्पष्ट करें।
2. भारतीय संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

1.3 सांस्कृतिक संकट के कारण

अब तक हमने जाना कि भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताएँ हैं फिर भी वर्तमान भारत की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को देखकर इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि वर्तमान जन–मानस निश्चित रूप से सांस्कृतिक संकट के दौर से गुजर रहा है। वस्तुतः सांस्कृतिक संकट तब खड़ा होता है, जब राष्ट्रीय चरित्र में गिरावट आती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यवस्था के बीच सन्तुलन टूट जाता है। इस असन्तुलन के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें कुछ प्रमुख कारण निम्नांकित हैं —

1. शिक्षा के दृष्टिकोण का विपर्यास– हमारे समाज में शिक्षा का कार्यक्रम बचपन से ही चलता है। एक बालक को 3 वर्ष की उम्र से भी पहले ही विद्यालय में अध्ययन हेतु दाखिल करवा दिया जाता है। एक विद्यार्थी को बहुत छोटी उम्र में ही उसके स्वयं के वजन से भी अधिक वजन की पुस्तकें उसे पढ़नी पड़ती है फिर भी समस्या यह है कि हमारे बालकों का समुचित विकास नहीं हो पाता। इसका प्रमुख कारण है वर्तमान शिक्षा पद्धति से बच्चों को शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के लिये उचित मार्ग का मिलना। परन्तु मानसिक एवं भावनात्मक

विकास के लिए किसी भी प्रकार का मार्ग उपलब्ध न होना है। फलतः इस बौद्धिकता से हमें अच्छे विशेषज्ञ तो मिल रहे हैं पर वे कितने नैतिक है, मूल्यवान् है, यह कह सकना कठिन है। यही शिक्षा का विपर्यास है। प्रारम्भ से ही शिक्षा सन्तुलित नहीं है।

2. अधिकार बोध की प्रबलता– आज त्याग भावना और कर्त्तव्य बोध की भावना समाप्त होती जा रही है। श्रद्धा, समर्पण के बजाय एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर अधिकार जमाना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति यही मानता है कि जो मैं सोचता हूँ, जो मेरे विचार हैं, वही सही हैं। फलस्वरूप वह अपने विचारों को दूसरों पर थोपने का प्रयास करता है। अपनी बात को, सही हो या न हो मनवाने का प्रयास करता है, जिसके कारण समाज में असमानता, असहिष्णुता का विकास होता है। वैराग्य, अनासक्ति, सौहार्द, श्रद्धा और विश्वास आदि शाश्वत मूल्यों के स्थान पर तर्क, बौद्धिकता, सन्देह आदि हावी हो जाते हैं।

3. आध्यात्मिकता का अभाव – भारतीय संस्कृति को अमिट बनाने में आध्यात्मिक मूल्यों का ही हाथ है। अहिंसा, समन्वय, सहिष्णुता, त्याग, स्नेह, मैत्रीभाव ये सभी आध्यात्म की उपज हैं। परन्तु आज इन मूल्यों पर से आस्था हटती जा रही है। आधुनिकता की बढ़ती होड़ में मनुष्य अध्यात्म को भूलकर भौतिकता की चकाचौंध में डूब रहा है। भौतिकता की चकाचौंध में डूबा मानव आध्यामिकता को रूढ़िवादिता का नाम देकर उससे बचने का प्रयास कर रहा है।

4. अनुशासन की कमी– स्वार्थ का दायरा बढ़ता जा रहा है। मैं और मेरे की सीमा में आबद्ध व्यक्ति उच्छृंखलता की दिशा में प्रगति कर रहा है। अनुशासनहीनता उसके जीवन की शोभायात्रा बन रही है। सही मायने में देखा जाए तो आज के युवा अनुशासन की परिभाषा भूलते जा रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने के कारण वे उच्छृंखलता को ही अपनी शान समझ रहे हैं। उनके विचारों में अनुशासन का अर्थ है— कारावास। ऐसी सोच के कारण न तो वह अनुशासन को अपनाते हैं, न ही उन्हें सही मानते हैं, न ही अनुशासन में जीना पसन्द करते हैं।

5. पारिवारिक विघटन – पारिवारिक विघटन भी संस्कृति ह्रास का एक मुख्य कारण है। विचारों में भेद होने के कारण एक ही परिवार के सदस्य एक दूसरे को सहन नहीं कर पाते। परिणामतः समता, विनय, स्नेह, आदर–सम्मान के भाव समाप्त हो रहे हैं। इसके अलावा मूल्यों के विकास में माता–पिता का, दादा–दादी का बड़ा हाथ रहता है किन्तु पारिवारिक दूरियाँ एवं एक दूसरे के सम्पर्क के अभाव में मूल्यों का हस्तान्तरण कठिन हो रहा है।

6. स्वच्छन्द मनोवृत्ति – यह सही है कि स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। स्वतन्त्रता बुरी बात नहीं है। परन्तु स्वतन्त्रता का प्रयोग जब गलत दिशा में होने लगता है तब स्वच्छन्दता कहलाती है। स्वच्छन्दता समस्या पैदा करती है। हमें स्वच्छन्दता की मनोवृत्ति से बचना होगा। इस स्वच्छन्दता की मनोवृत्ति ने हमारी संस्कृति पर बहुत हद तक कुल्हाड़ी चलाई है। मनुष्य किसी भी परिस्थिति को सहन नहीं करना चाहता, स्वच्छन्द रहना चाहता है। एक स्वेच्छाचारी के लिए प्रामाणिकता, धैर्य, नैतिकता, सरलता, समानता, सामंजस्य, आपसी सौहार्द आदि सभी गुण अवांछनीय होते हैं। वह इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता।

7. आत्म–नियन्त्रण की अक्षमता – विकास का सबसे बड़ा आधार है– संयम, नियंत्रण, अपने को वश में रखने की कला परन्तु आज इच्छाओं का साम्राज्य है। एक दिन में अनेक इच्छाएं पैदा होती है और व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयास करता चला जाता है। जो व्यक्ति अपने पर नियन्त्रण करना नहीं जानता, अपनी वृत्तियों और संवेगों पर नियन्त्रण करना नहीं जानता, वह समस्याएं पैदा करता है, संस्कृति को असुरक्षित करता है। जो व्यक्ति समझदार होता है, वह इच्छाओं को काट–छांट करना जानता है। हर इच्छा को पूरी नहीं करता, संयम करता है। जो स्वयं पर नियन्त्रण रखना जानता है, वही व्यक्ति अपने मूल्यों और आदर्शों को सुरक्षित रख सकता है। आज अधिकांश व्यक्ति इच्छाओं द्वारा चालित है। उनमें आत्म–नियन्त्रण की क्षमता नहीं है। जो संस्कृति के लिए खतरा पैदा कर रही है।

8. आग्रह – हमारी अधिकांश समस्याओं का मूल कारण है — आग्रह। जीवन में अनाग्रह और सत्य आना चाहिए किन्तु इसके लिए हमें समय नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में— हमने मस्तिष्क में ताला लगा रखा है। जाति का ताला, वर्ण और सम्प्रदाय का ताला। भगवान महावीर ने जातिवाद पर प्रहार किया। अनेक आचार्यों ने इसके विरुद्ध ग्रन्थ लिखे फिर भी इसकी समस्या ज्यों कि त्यों बनी है। इसी प्रकार भाषा का भी ताला लगा है। सब अपनी–अपनी भाषा को आधार प्रदान करने में लगे हुए हैं। जिसके कारण जहाँ समन्वय, एकता की बात थी वहीं विरोध, झगड़ा और अनेकत्व बढ़ रहा है। इन सबके मूल में है—आग्रह। जब तक हम आग्रह रूपी बेड़ियों के शिकंजे में है तब तक संस्कृति को संकट का सामना करना होगा।

9. मनुष्य की प्रकृति – मनुष्य अनेक चरित्रवाला होता है। चरित्र के छह प्रकार बताए गए – 1. रागात्मक चरित्र, 2. द्वेषात्मक चरित्र, 3. मोहात्मक चरित्र, 4. श्रद्धात्मक चरित्र, 5. बुद्धयात्मक चरित्र, 6. वितर्कात्मक चरित्र।

इन छह चरित्रों के आधार पर मनुष्य भी छह भागों में विभक्त हो जाते हैं। एक मनुष्य रागात्मक चरित्र वाला होता है। उसे आसक्ति और राग अच्छा लगता है। वह इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहता है। वह सौन्दर्य का पिपासु होता है। पदार्थ जगत् की लुभावनी आकृत्तियों में आसक्त हो जाता है। इस प्रकृति वाले व्यक्ति पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता में उलझ जाते है और अपनी संस्कृति के प्रति निरपेक्ष हो जाते हैं और समस्या पैदा करते हैं।

1.4 संस्कृति सुरक्षा के प्रयास

प्राय: 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक हिन्दू धर्म एवं समाज अनेक दोषों और कुरीतियों से आवृत्त हो चुका था। मुस्लिम शासन के आघात से आहत हिन्दू धर्म व हिन्दू समाज का अंग्रेजी शासन काल में तीव्रता से पतन हुआ। जहाँ अंग्रेजों ने भारत में राजनीतिक विजय प्राप्त की। वहाँ उन्हें भारतीय संस्कृति पर भी विजय मिली। हिन्दू धर्म तथा समाज मूर्तिपूजा, नारियों की दुर्दशा, जातीय बन्धनों, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण और नाना कुरीतियों तथा दोषों से पहले ही खोखला हो चुका था। जैसा कि हमने पहले जाना पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीयों को भारतीय कहलाने तथा भारतीय होने में लज्जा अनुभव होने लगी। भारतीय वस्तुओं की निन्दा की जाने लगी और भारत का शिक्षित समाज तेजी से पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंगने लगा किन्तु इसे अध:पतन से निकालने के लिए भारत के कुछ महापुरुष राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ ने धार्मिक तथा समाजिक सुधार करने प्रारम्भ किए।

1.4.1 ब्रह्म समाज

ब्रह्म समाज आन्दोलन 19वीं सदी के सुधारों की पहली किश्त, भारतीय नव-जागरण का प्रथम प्रतिफल था। यूरोपीय संस्कृति और धर्म से प्रभावित हिन्दू धर्म का यह नवीन रूप था जिसने हिन्दू समाज में एक नया दृष्टिकोण पैदा किया तथा उदार लोकतान्त्रिक आदर्शों के प्रति आस्था उत्पन्न की। यूरोप से आए बुद्धिवाद के यह अनुरूप था और उपनिषदों का अद्वैतवाद इसका आधार था।

इसकी स्थापना सन् 1828 में राजा राममोहन राय ने की। राजा राममोहन राय का कार्यक्षेत्र बहुमुखी था। धार्मिक सुधार, संस्कृति सुरक्षा के रूप में उन्होंने विभिन्न धर्मों में प्रचलित रूढियों और विधि-विधानों को छोड़ने पर बल दिया तथा एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वास्तव में इस्लामी आध्यात्मिकता और समाजशास्त्र के अध्ययन ने उन्हें मूर्तिपूजा तथा अनेकेश्वरवाद का कटु आलोचक बना दिया था। राजा राममोहन राय के आन्दोलन ने देश में नवचेतना जागृत करने में बहुत सफलता प्राप्त की। राजा राम मोहन राय के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन आदि ने इसका पोषण किया। ब्रह्म समाज ने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप धार्मिक पूजा में मूर्तिपूजा, पशुबलि प्रसाद, भोग तथा आडम्बर का पूर्ण विरोध किया।

1.4.2 आर्य समाज

11वीं शताब्दी में भारत में जो धर्म व समाज-सुधार आन्दोलन हुए, उनमें आर्य समाज का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू जाति की सामाजिक दशा में सुधार लाने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में इसकी स्थापना की। स्वामी दयानन्द को इस बात का बड़ा कष्ट पहुंचा कि हिन्दू समाज व संस्कृति की दशा उस समय बहुत शोचनीय थी। महर्षि दयानन्द ने भारतीयों के हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति स्वाभिमान जगाया। उन्होंने हिन्दू पुनरुत्थान के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद को जगाने के लिए अविवेक, अन्धविश्वासों और रूढ़िवादियों से डटकर लोहा लिया। उन्होंने आर्य समाज के सामाजिक आधार और नैतिक सिद्धान्तों की जो संहिता बनाई उनमें भी जन्मना, जातिपात, मनुष्यों में असमानता और स्त्रियों तथा पुरुषों में विषमता की गुञ्जाइश नहीं थी। स्वामी दयानन्द ने खुले तौर पर स्वीकार किया कि भारत में ब्रिटिश शासकों की अपेक्षा श्रेष्ठतर सामाजिक कुशलता है, उनसे अधिक उत्तम सामाजिक संस्थाएं हैं, जिनमें आत्म-त्याग, सार्वजनिक सेवा, उत्साह, अनुशासन और देशभक्ति की भावना है। उन्होंने भारतीयों को संदेश दिया कि वे अपने राष्ट्रीय और सामाजिक चरित्र को अनुकरणीय बनाएं। उन्होंने हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय एकता का माध्यम माना।

आर्य समाज के कुछ मुख्य सिद्धान्त

आर्य समाज के निम्नलिखित पाँच मुख्य सिद्धान्त हैं—

1. ईश्वर सत्-चित् आनन्द है, उसका कोई आकार नहीं है।
2. सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने को सदा उद्यत रहना चाहिये।

3. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार कर करना चाहिये।
4. प्रत्येक के साथ उसके गुणों के अनुसार प्रेम तथा न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिये।
5. सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

1.4.3 रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण मिशन ने न केवल हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के गौरव की प्रतिष्ठा की बल्कि भारत के लोगों को बताया कि धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है। रामकृष्ण मिशन 19वीं शताब्दी का एक महान् धार्मिक आन्दोलन था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस इस संस्था के जन्मदाता थे। इसके पश्चात् स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू जाति की अन्तरात्मा को जगाने का प्रयत्न किया तथा संस्कृति सुरक्षा के लिए कदम उठाए।

विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार - विवेकानन्द एक तेजोमयी संन्यासी थे। वे 1893 में अमेरिका गए, जहाँ शिकागो में उन्होंने धर्म-संसद में भाषण दिया। विवेकानन्द का भाषण भारत की सार्वदेशिकता और विशाल हृदयता से ओत-प्रोत था। उनके भाषण ने वहां के हर श्रोता को मुग्ध कर लिया। अमेरिका में तीन वर्ष रहकर वह लन्दन गए। वहां पर उन्होंने वेदान्त पर भाषणों का तांता लगाया। उनके व्याख्यानों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वहां उनके अनेक शिष्य बन गए। जिनमें मिस्टर सैण्डसबर्ग, (जो बाद में स्वामी कृपानन्द कहलाए), मैडम लुई (बाद में सिस्टर निवेदिता), जे.जे. वोडविल, केप्टन सीविया आदि प्रमुख थे। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने न केवल अपनी संस्कृति की सुरक्षा ही की अपितु उसे सात समन्दर पार पहुंचाने में बड़ा योगदान दिया।

1.4.4 गाँधीजी के प्रयास

महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत था। वे भारत के आध्यात्मिक उत्थान के प्रतीक थे। उनके आध्यात्मिक आदर्शवाद में ईश्वर, सत्य, नैतिकता, साधना की श्रेष्ठता, अहिंसा आदि को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। गाँधीजी को इस बात से बड़ा कष्ट पहुंचता था कि आधुनिक पढ़े-लिखे नवयुवक ईश्वर और धर्म से अपनी आस्था खोते जा रहे थे। गाँधीजी ने विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त करके भी भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिकता के प्रति अपना विश्वास नहीं खोया। उन्होंने दीन-दुखियों और गरीबों की मदद को ईश्वर की सेवा का रूप दिया। उन्होंने झूठ, बेइमानी आदि को भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों के लिए कंटमय ठहराया। उन्होंने कहा कि असत्य आचरण मानवता के लिए अभिशाप है। उन्होंने सत्य को ईश्वर की संज्ञा दी। अपने विचारों और कार्यों द्वारा नैतिक पवित्रता तथा साधनों की श्रेष्ठता का महत्त्व स्थापित किया। उन्होंने भारतीयों को कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करने की प्रेरणा दी। आपने कहा- भारतीय समाज और संस्कृति का मूल अहिंसा में निहित है।

गाँधीजी ने धर्म और संस्कृति का समन्वय किया। उन्होंने आदर्श संस्कृति की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसकी मूल भावना धार्मिक अथवा आध्यात्मिक थी। उन्होंने संदेश दिया कि मानवता की प्रगति के लिए सत्य अहिंसा, प्रेम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अनिवार्य हैं तथा ये सार्वभौमिक मूल्य हैं और संस्कृति के विभिन्न रूप इन्हीं पर आधारित हैं।

1.4.5 आचार्य तुलसी कृत प्रयास

वर्तमान युग की ज्वलन्त समस्याओं को समाहित कर युग चेतना को नयी दिशा देने तथा संस्कृति सुरक्षा हेतु आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया। अणुव्रत आन्दोलन का मूल लक्ष्य था नैतिक, सामाजिक, धार्मिक मूल्यों की स्थापना। नैतिक मूल्य सामाजिक सम्पर्क के लिए सेतु हैं। उनका मूल आधार है— सत्य निष्ठा और अहिंसा निष्ठा। आचार्य तुलसी के शब्दों में सत्य और अहिंसा के आधार पर प्रसूत नैतिकता देश, काल और परिस्थितियों में रूपान्तरित होती हुई भी सबके लिए ग्राह्य होती है। नैतिकता का समाज में सर्वोपरि मूल्य है। इसका अवमूल्यन होने से सामाजिक व्यवस्था टूट जाती है। आचार्य तुलसी ने कहा-संयम हमारी संस्कृति है। संयम के साथ नैतिकता की शर्त अनिवार्य है।

उन्होंने विकास के नाम पर आधुनिकता की अंधी दौड़ महिलाओं के लिए उचित नहीं मानी। उन्होंने कहा — मैं आधुनिकता को बुरा नहीं मानता पर इस दिशा में अति से बचना जरूरी है। भारतीय संस्कृति से प्रतिकूल खान-पान और रहन-सहन ने मनुष्य की जीवनशैली को विकृत बना दिया है।

आचार्य तुलसी के शब्दों में संस्कृति की पहचान का एक घटक है— भाषा। हर भाषा में कुछ ऐसे शब्द होते हैं जो अपनेपन का मिठास भरे रहते हैं। माँ शब्द कितना मीठा है पर आज की पीढ़ी मम् जैसे शब्दों में उलझकर उस मिठास से वंचित हो रही है। पिता शब्द

का स्थान पप्पा, डैडी आदि शब्दों ने ले लिया। इसी प्रकार काका, भाई, बहन, बुआ आदि शब्द भी लुप्त होते जा रहे हैं। आंटी, अंकल आदि ऐसे शब्द हैं जो निकटतम सम्बन्धी के लिए भी प्रयुक्त होते हैं और राह चलते अपरिचित व्यक्ति के लिए भी। इससे पारस्परिक सम्बन्धों में लिजलिजापन आया है। संस्कृति सुरक्षा के लिये इस ओर ध्यान देना जरूरी है।

नशा मुक्ति अभियान

भारतीय संस्कृति जो अध्यात्म की संस्कृति के रूप में प्रसिद्ध थी, आज नशे की संस्कृति बनती जा रही है, कहना अतिशयोक्ति नहीं है। आज बाल-वृद्ध सभी न केवल सिगरेट पीकर धुआँ उड़ाना अपितु क्लबों में जाकर शराब पीना अपनी शान समझते हैं।

मनुष्य के निषेधात्मक भावों का अध्ययन किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसे बहुत से काम नहीं करने चाहिए पर वह करता है। चोरी, डकैती, धोखाधड़ी आदि अकरणीय कामों में मनुष्य की प्रवृत्ति उसको मनुष्यता के धरातल से नीचे उतारने वाली है। उसमें बढ़ती जा रही नशे की प्रवृत्ति कितनी घातक है, संभवत: इस विषय में वह कभी गंभीरता से नहीं सोचता। बीड़ी-सिगरेट, भांग, अफीम, गांजा आदि कुछ चीजें लम्बे समय से प्रचलित हैं। अब ये चीजें काफी पुरानी पड़ रही हैं। इनके स्थान पर नई-नई चीजों का आविष्कार हो रहा है। संस्कृति की सुरक्षा के लिए हमें अपनी युवा पीढ़ी को नशे से बचाने की जरूरत है। आचार्य तुलसी ने इस ओर ध्यान दिया और अपने जीवन में लम्बे समय तक पद-यात्राओं के दौरान नशा-मुक्ति का अभियान चलाया। जगह-जगह पर लोगों को संकल्प करवाये।

शाकाहार पर बल

हमारी संस्कृति शाकाहारी संस्कृति थी पर आज मांसाहार का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। आचार्य तुलसी ने शाकाहारी संस्कृति की सुरक्षा के लिए भी आवश्यक कदम उठाए। आचार्य तुलसी के शब्दों में –"बीमार या दुर्बल व्यक्तियों को पोषक आहार के रूप में अण्डों का सेवन करने के लिए परामर्श दिया जा रहा है जो किसी भी दृष्टि से सही नहीं है अपितु यह शाकाहारी संस्कृति और सभ्यता पर सीधा प्रहार है।"

आचार्य तुलसी ने अण्डे की सजीवता और निर्जीवता को बहस का एक मुद्दा माना। दूसरा मुद्दा माना उसकी भक्ष्यता और अभक्ष्यता को। उन्होंने कहा— जिन देशों की संस्कृति में भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में कोई भेदरेखा खींची हुई नहीं है, वे किसी भी वस्तु को भोजन के रूप में काम में ले सकते हैं किन्तु भारत जैसे देश में जहां भक्ष्य-अभक्ष्य की बहुत मीमांसा होती रही है, वहाँ किसी भी अभक्ष्य पदार्थ को आंख मूंदकर स्वीकार नहीं किया जा सकता है – पोषक आहार का जहां तक प्रश्न है, इस सम्बन्ध में हुए रिसर्च के आंकड़े आश्चर्यकारक हैं। एक अण्डे में प्रोटीन, वसा, खनिज लवण, कैल्शियम, कार्बोहाइड्रेट, फॉस्फोरस, लोहा आदि जितनी मात्रा में उपलब्ध होते हैं, हरी सब्जियों तथा अन्न में उनका अनुपात अधिक बताया जाता है। कैलोरीज की मात्रा में भी बहुत अन्तर रहता है। इस सन्दर्भ में प्राप्त आंकड़ों का गहरा अध्ययन किया जाए तो अण्डे का आकर्षण एक झटके में समाप्त हो सकता है। इस प्रकार आचार्य तुलसी ने शाकाहारी संस्कृति के लिए आवश्यक कदम उठाकर संस्कृति सुरक्षा के अथक प्रयास किये।

1.5 संस्कृति सुरक्षा के उपाय

जैसा कि हमने जाना किसी भी देश व राष्ट्र के अस्तित्व का मौलिक आधार उसकी संस्कृति है। संस्कृति का विकास समाज का विकास है। संस्कृति के आधार पर ही व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की पहचान होती है। जब तक संस्कारों को शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत बनाने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक देश के सर्वांगीण विकास की भी परिकल्पना नहीं की जा सकती। आचार्य तुलसी के शब्दों में—

संस्कारों का जागरण होता जहाँ प्रकाम।
खुलते रहते हैं वहाँ, नये-नये आयाम॥

वस्तुत: संस्कृति का ह्रास किसी व्यक्ति व समाज के लिए नहीं, पूरी मानव जाति के लिए खतरा है। इसलिए संस्कृति सुरक्षा की ओर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। जीवन विज्ञान में संस्कृति सुरक्षा हेतु चार उपाय निर्दिष्ट हैं—

1.5.1 अध्यात्म विद्या

अन्तर्जगत की पहचान के लिए एक विद्या का विकास हुआ, उस विद्या का नाम है - अध्यात्म विद्या। अध्यात्म शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है अधि+आत्मा। जिसका अर्थ होता है— आत्मा के निकट। जिस विद्या से मनुष्य को आत्मा के निकट रहने का ज्ञान प्राप्त होता है, वह अध्यात्म विद्या है। अध्यात्म विद्या को प्राप्त करने वाला व्यक्ति आत्मा के निकट रहना सीखता है। जो व्यक्ति आत्मा के निकट रहता है, वह समाज में अनैतिकता, दुराचार, अराजकता या अत्याचार नहीं फैला सकता। अध्यात्म में सार्वभौम और शाश्वत मूल्यों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। जिनके माध्यम से व्यक्ति और समाज दोनों में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अध्यात्म के मूलभूत आधार दो हैं — आत्मा और कर्म। यदि हम आत्मा और कर्म को हटा लें तो अध्यात्म का आधार शून्य हो जायेगा। अध्यात्म की समूची कल्पना और व्यवस्था इस आधार पर है कि आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। यदि आत्मा नहीं तो किसे मुक्त किया जाए और यदि कर्म नहीं है तो किससे मुक्त किया जाए? ''आत्मा को कर्म से मुक्त करना है'' इस सीमा में समूचा अध्यात्म समा जाता है।

वस्तुत: शरीर और आत्मा के सन्दर्भ में तीन विचारधाराएं रही हैं। एक विचारधारा का मत है— शरीर ही सब कुछ है। शरीर से भिन्न किसी चैतन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है। यह विचारधारा भारत में चार्वाक दर्शन के नाम से प्रख्यात है।

दूसरी विचारधारा है— चिकित्सा शास्त्र की। आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र का दर्शन है। इसमें शरीर प्रधान तत्त्व है परन्तु आत्मा को भी अस्वीकार नहीं किया गया है।

तीसरी विचारधारा है- आत्मवाद की, अध्यात्मविद्या की। इसमें आत्मा को प्रधानता दी गई। अध्यात्म विद्या में आत्मा प्रधान है शरीर गौण।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अध्यात्मविद्या के आधारभूत तत्त्वों को अपनाकर भारतीय संस्कृति को संकट से बचाया जा सकता है।

1. आत्मा :- अध्यात्म का पहला तत्त्व है— आत्मा। आत्मा चैतन्यमय है। अपने सुख-दु:ख का कर्त्ता स्वयं आत्मा ही है। इस बात को भारतीय जनमानस में फैलाना होगा। आत्मा को स्वीकार किये बिना समस्या का समाधान संभव नहीं है।

2. आत्मा के पर्याय :- आत्मा अनेक रूपों में परिवर्तित होती रहती है। वह कभी मनुष्य बनती है, कभी देव और कभी पशु, पक्षी, वनस्पति आदि। ये नाना रूप आत्मा की अवस्थाएँ हैं। आत्मा की इन विभिन्न अवस्थाओं को जानना और उसके निवारण का प्रयास करना अध्यात्म विद्या का एक प्रमुख तत्त्व है।

3. पुनर्जन्म :- अध्यात्मविद्या का तीसरा तत्त्व है- पुनर्जन्म। आत्मा थी, आत्मा है और आत्मा रहेगी। मनुष्य जन्म लेता है और मरता है पर आत्मा नहीं मरती। उसका पुनर्जन्म होता है। मरने के बाद फिर जन्म होता है।

4. कर्म :- अध्यात्मिकता का चौथा तत्त्व है— कर्म। परिवर्तन का एक नियम है कर्म। जो परिवर्तन हो रहा है, वह क्यों हो रहा है? एक आत्मा कभी मनुष्य और कभी पशु क्यों बन रही है? यह सारा परिवर्तन कर्मकृत होता है, इसीलिए कर्म के नियमों को जानना अपेक्षित है। किस प्रकार का कर्म प्राणी को किस गति में ले जाता है। किस प्रकार का कर्म आदमी को किस बन्धन से बाँधता है? किस प्रकार उसका विपाक होता है। यह प्राणियों की जो विविधता और विचित्रता है, उसकी पृष्ठभूमि में कर्म जुड़ा है। यह अध्यात्म का प्रमुख विषय है।

5. जन्म के नियम का ज्ञान :- शरीरशास्त्र में जन्म की पूरी प्रक्रिया बतलाई जाती है। बच्चा कब गर्भ में आता है? भ्रूण कैसे विकसित होता है? किस प्रकार वह गर्भावस्था में रहता है फिर भी कुछ प्रश्न शेष रह जाते हैं? जैसे- वही भ्रूण क्यों बनता है? वह किस कारण से पैदा हुआ? दो जुड़वा बच्चे एक साथ पैदा हुए दोनों में अन्तर का कारण क्या है? आदि-आदि अनेक प्रश्न अध्यात्म-विद्या के विषय बनते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति इन नियमों को जानकर अपने जीवन को सम्यक् दिशा प्रदान कर संस्कृति को सुरिक्षत कर सकता है। अध्यात्म का लक्ष्य है— परमेश्वर से सम्पर्क स्थापित करना। आध्यात्मिक जीवन आत्म दर्शन, आत्मिक ज्ञान और अन्त:स्फूर्त ईश्वर-दर्शन का जीवन है। इससे मनुष्य को अबाध स्वतन्त्रता और आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। फलस्वरूप उसे जैसे इन्द्रियाँ नचाती है, वैसे ही नहीं नाचता। अध्यात्म के कारण उसके जीवन में घटित होने वाला यह परिवर्तन संस्कृति की सुरक्षा के लिए कवच सिद्ध होता है।

1.5.2 योग

भारतीय परम्परा में योग का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। भारतीय धर्म, पुराण, इतिहास आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि योग साधना की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है। उपनिषद् में जहाँ योग को ब्रह्म के साथ साक्षात्कार कराने वाली क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है, वहीं गीता में ''समत्वं योगमुच्यते'', ''योग: कर्मसु कौशलम्'' आदि वाक्यों से योग का स्वरूप दर्शाया गया है।

भारत में प्राचीन काल से ही योग पद्धतियाँ प्रचलित हैं। उनकी दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराएं भिन्न-भिन्न हैं। वर्तमान युग में कोई इन परम्पराओं से पूर्णत: सहमत हो या न हो पर उनकी व्यावहारिक उपयोगिता निर्विवाद रूप से उभरकर सामने आई है। पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा— ''**योगश्चित्तवृत्ति निरोध:**'' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा वृत्तियों को बाह्य समस्त विषयों से हटाकर अपने मूल स्वरूप में अवस्थित करना योग है। गीता में कहा गया— **सिद्ध्यासिद्ध्यो समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।** दु:ख-सुख, लाभ-

अलाभ, शत्रु-मित्र, शीत और उष्ण आदि द्वन्दों में सर्वत्र समभाव रखना योग है। वस्तुत: योग परम तत्त्व की प्राप्ति है। उसके लिए अनेक साधनों का उपयोग किया जाता है। उन साधनों को भी योग कहा जाता है। पतंजलि ने अष्टांग योग की चर्चा की है— 1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान और 8. समाधि।

अष्टांग योग आध्यात्मिक ज्ञान का मार्ग है। जब व्यक्ति अष्टांग योग में प्रवृत्त होता है, उसकी आन्तरिक कलुषता समाप्त होने लगती है। पवित्रता का विकास होता है। कार्लगुस्ताव युंग, विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक के अनुसार- ''योग आज के विश्व की गंभीरतम समस्या के हल के लिए आवश्यक एवं उपयोगी है।'' युंग ने वर्तमान की भीषणतम समस्या के समाधान के लिए भारतीय योग का परीक्षण किए जाने की योग्य सलाह भी दी है।

1.5.3 संस्कृति का शिक्षण एवं प्रशिक्षण

बालकों को संस्कारित किए बिना संस्कृति की सुरक्षा मात्र सपना है। संस्कार यदि ऊंचे होंगे तो संस्कृति अपने आप उन्नत, विकसित और उदित होती चली जाएगी। आज यह भी स्पष्ट हो गया है कि जो जीवन के मूल्य हैं, जो संस्कृति के सार हैं, उन्हें बचपन से ही सीखे एवं सिखाएं जा सकते हैं। स्नेह, सौहार्द, सहिष्णुता, सर्वत्र समदर्शिता, सर्वधर्म-सम्मान, भावशुद्धि, कर्त्तव्य बोध की जागरुकता, सामन्जस्य आदि संस्कृति के प्रमुख तत्त्व हैं। शिक्षा के माध्यम से इन तत्त्वों को जीवन में स्थापित किया जा सकता है। आज अपेक्षा है शिक्षा के साथ इन मूल्यों का शिक्षण और प्रशिक्षण भी जोड़ा जाए।

शिक्षा जीवन के विकास का अपरिहार्य अंग है। अंधविश्वास, सामाजिक रूढ़ियों, अनुचित मान्यताओं और जीवनगत विकृतियों में परिष्कार लाने का माध्यम भी शिक्षा है। एक ओर शिक्षा जीने की कला सीखाती है तो दूसरी ओर पारंपरिकता में दक्षता लाती है। शिक्षित लोग अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए भी कटिबद्ध रहते हैं किन्तु यह सब तभी संभव है जब जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा प्राप्त हो। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में ऐसा कुछ नहीं है। अत: जरूरत है आज की शिक्षा पद्धति के साथ संस्कृति का शिक्षण एवं प्रशिक्षण जोड़ा जाए।

1.5.4 जीवन विज्ञान

भारतीय संस्कृति जो हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवाहमान थी, आज संकट की ओर है। इस संकट का मूल कारण है— आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास। अहिंसा, समन्वय, त्याग, मैत्रीभाव, कर्त्तव्य बोध, नैतिकता, सहिष्णुता— ये सभी आध्यात्मिक मूल्य हैं। हमारे पूर्वजों की अमूल्य धरोहर हैं। परन्तु ये आज असुरक्षित हैं। इनकी सुरक्षा के लिए चार बातें आवश्यक हैं— 1. उचित एवं अनुचित का विवेक, 2. पुण्य-पाप का बोध, 3. संवेदनशीलता एवं 4. आध्यात्मिकता— ये सब मिलकर समाज में पनपने वाली दुष्प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर संस्कृति को सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। जब तक व्यक्ति उचित एवं अनुचित में भेद करना नहीं जानता तब तक वह अकरणीय एवं अनुचित कार्यों को करता चला जाता है। जब तक उसके भीतर यह विवेक जागृत नहीं होता कि अमुक कार्य करने से उसे पुण्य होगा और अमुक कार्यों से वह पाप का घड़ा भरेगा तब तक उन कार्यों को करता चला जाता है जिन्हें सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अकरणीय माना जाता है। जब तक उसके भीतर संवेदनशीलता एवं आध्यात्मिकता के भाव नहीं पनपते तब तक वह आध्यात्मिक मूल्यों को अपना नहीं सकता।

उपरोक्त गुणों के विकास के लिए एक ऐसी शिक्षण पद्धति की आवश्यकता है जो व्यक्ति को इन सबका उचित बोध दे सके। व्यक्ति को उचित-अनुचित में भेद करना सीखा सके। पुण्य-पाप का बोध करवा सके। संवेदनशीलता एवं अध्यात्म की भावना को जागृत कर सके।

जीवन विज्ञान एक ऐसी शिक्षा पद्धति है, जिसकी सहायता से व्यक्ति उचित-अनुचित में भेद कर सकता है। स्वयं के लिए क्या करणीय है, क्या अकरणीय है? अच्छी तरह समझ सकता है। संक्षिप्त रूप में यह कहा जाए तो जीवन-विज्ञान की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह कहा जा सकता है कि जीवन विज्ञान संस्कृति सुरक्षा का सुन्दर उपाय है।

1. मूल्य परक शिक्षा — जीवन विज्ञान एक मूल्कपरक शिक्षा है। यह विद्यार्थियों को मूल्यों का विस्तृत रूप से ज्ञान देती है। मूल्य क्या है? इनकी हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है? इनको अपनाने से व्यक्ति किस प्रकार लाभान्वित होता है? आदि बातें जीवन विज्ञान की सहायता से व्यक्ति जान सकता है।

2. समन्वित शिक्षा पद्धति :- हमारा व्यवहार बदले, युग की दिशा बदले इसके लिए आवश्यक है, मस्तिष्क का प्रशिक्षण हो, हमारे रसायन बदले। विज्ञान के अनुसार मनुष्य के भीतर पैदा होने वाले नकारात्मक स्रावों को बदले बिना परिवर्तन की कल्पना करना मात्र कल्पना ही होगी। यदि परिवर्तन घटित करना है तो स्रावों को बदलना होगा। अध्यात्म के अनुसार स्राव को बदलने के लिए आवश्यक है प्रयोग। किस

व्यक्ति के लिए कौन सा प्रयोग करणीय है, इस विवेक के साथ प्रयोग करवाए जाए तो निश्चित ही व्यक्तित्व का रूपान्तरण सम्भव है। जीवन विज्ञान एक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है। यह अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय है जिससे व्यक्तित्व को सरलता से बदला जा सकता है तथा आज की विकृत संस्कृति को पुनः स्वस्थ किया जा सकता है।

3. अध्यात्म की शिक्षा :- व्यक्ति जितना बाहर रहता है उसकी चेतना जितनी पदार्थोन्मुखी रहती है, उतनी ही समस्याएं पैदा होती हैं। वह छोटी-छोटी बातों में उलझता चला जाता है। मैं और मेरेपन का भाव बढ़ता जाता है। अहंकार-ममकार, प्रतिशोध, प्रतिस्पर्धा, राग-द्वेष के प्रवाह में बहता जाता है परन्तु व्यक्ति जब भीतर झाँकना शुरू करता है। वह आध्यात्मिक बनता है तब बाहर की सारी समस्याएं उसके लिए गौण बन जाती हैं। पहाड़ जितनी समस्या भी राई के समान हो जाती है। आवश्यक है आध्यात्मिक बनें। जीवन विज्ञान एक आध्यात्मिक शिक्षा पद्धति है।

बोध प्रश्न-2

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

1. ''आज हमारी संस्कृति संकट में है''– इस कथन को सिद्ध करते हुए संस्कृति संकट के कारणों की चर्चा अपने शब्दों में करें?
2. संस्कृति की सुरक्षा के लिए गाँधी एवं आचार्य तुलसी द्वारा किये गए प्रयासों पर एक लेख लिखें?
3. संस्कृति-सुरक्षा के लिए जीवन विज्ञान किस तरह उपयोगी बन सकता है, व्याख्यायित कीजिए?
4. संस्कृति-सुरक्षा के लिए आपकी दृष्टि में कौन-कौन से तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, अपने विचार प्रस्तुत करें?
5. अध्यात्म का अर्थ बताते हुए यह संस्कृति-सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है, सिद्ध करें?

इकाई–1 (ख) जीवन विज्ञान : उद्भव और विकास

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  1.2.1 अणुव्रत आन्दोलन : प्रथम चरण
  1.2.2 प्रेक्षाध्यान : दूसरा चरण
  1.2.3 जीवन विज्ञान : नामकरण
1.3 जीवन विज्ञान : स्वरूप
  1.3.1 जीवन विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषाएँ
  1.3.2 जीवन विज्ञान : संतुलित शिक्षा प्रणाली
  1.3.3 जीवन विज्ञान : प्रकृति
  1.3.4 जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य
1.4 जीवन विज्ञान : प्रविधियाँ
1.5 जीवन विज्ञान : मूल अंग

1.0 उद्देश्य

'जीवन विज्ञान : उद्भव और विकास' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप —

- जीवन विज्ञान का उद्भव कैसे हुआ, जान सकेंगे।
- जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है, जान सकेंगे।
- जीवन विज्ञान के लक्ष्य एवं उद्देश्य से परिचित हो सकेंगे।
- जीवन विज्ञान की प्रविधियाँ एवं मूल अंगों को व्याख्यायित कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

जीवन विकास का मूलभूत साधन है – शिक्षा। अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाने का सर्वोत्तम साधन है– शिक्षा। शिक्षा के दो आयाम हैं– अध्ययन और अभ्यास। अभ्यास पर आज कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। अध्ययन ही अब शिक्षा का अर्थ रह गया है जबकि शिक्षा का मूल उद्देश्य है– शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास को आधार बनाकर मनुष्य की आन्तरिक चेतना को जागृत करना। इसी यथार्थ को ध्यान में रखकर उठाया गया एक कदम है– जीवन–विज्ञान। जीवन विज्ञान क्या है? इसका उद्भव किन परिस्थितियों में किन–किन कारणों से हुआ, इसका विवेचन हम इस इकाई में करेंगे। इस इकाई में हम जीवन विज्ञान के लक्ष्य एवं उद्देश्य के साथ उसकी प्रविधियाँ एवं मूल अंगों से भी परिचित हो सकेंगे।

1.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दुस्तान की संस्कृति ऋषि एवं कृषि प्रधान रही है। सदियों से ऋषि, महापुरुष, सन्त, साधु, महात्मा, परिव्राजक आदि महान् आत्माएं घूम–घूम कर जनजीवन में अध्यात्म, नैतिकता, करुणा, प्रेम, मैत्री आदि संस्कारों तथा मूल्यों का सम्प्रेषण और पल्लवन करते रहे हैं। इससे व्यक्ति की चेतना का परिष्कार, जीवन मूल्यों का विकास, स्वस्थ समाज के निर्माण का क्रम आगे बढ़ता रहा है। इस दृष्टि से जीवन विज्ञान कोई नई बात नहीं है। अत: इसका उद्भव कब हुआ? कहना कठिन है। भारत की स्वतंत्रता के बाद इसका उद्भव एक नयी घटना है।

भारत आजादी से पूर्व शत्रुओं के आक्रमण, देश की गुलामी, प्राचीन साहित्य एवं भाषा से दूरी के परिणामस्वरूप भारतवासियों का

अपनी संस्कृति से अपरिचय तथा जीवन के उन्नत मूल्यों से दूरी बढ़ती गई। सहिष्णुता, सहअस्तित्व, सौहार्द एवं प्रेम की जगह असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता और विद्वेष ने अपना स्थान बनाया। समाज में जीवन मूल्यों के प्रति भारी गिरावट आई।

शताब्दियों की परतन्त्रता के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ। हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़के। लाखों लोग मारे गये। हिन्दुस्तान विभक्त हो गया। यहां लोकतंत्रीय प्रणाली तो विकसित हुई पर जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, अप्रामाणिकता, अनुशासनहीनता, पद की लालसा, अनुचित महत्त्वाकांक्षाएं भी बढ़ती गई। इन समस्याओं से चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो रहा था।

1.2.1 अणुव्रत आन्दोलन : प्रथम चरण

तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों ने महामना, उदारचेता, कोमल हृदय आचार्य तुलसी की चेतना को झंकृत किया। समस्या के समाधान में आपका विचार बना कि देश में असली आजादी तभी आ सकती है जब चारित्रिक-नैतिक उत्थान हो, इसी उदात्त भावना, चिंतन-मनन एवं प्रबल पुरुषार्थ का परिणाम बना- अणुव्रत आंदोलन। 2 मार्च 1949 को हुआ यह आंदोलन जीवन मूल्यों के विकास में पहला प्रस्थान बना। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी ने जन-जन तक नैतिकता की आवाज बुलन्द की। लगभग 60 हजार किलोमीटर की पदयात्रा पूरे भारतवर्ष में की। लाखों लोगों से सम्पर्क साधा। ग्रामीण की झोंपड़ी से लेकर संसद भवन तक अपने विचार पहुंचाये। जीवन मूल्यों के विकास में अहर्निश अथक प्रयत्न किये। इस प्रकार स्वतन्त्रता के बाद अणुव्रत आन्दोलन, जीवन-मूल्यों के विकास का पहला चरण और एक नई घटना है।

1.2.2 प्रेक्षाध्यान— दूसरा चरण

अणुव्रत आंदोलन का मुख्य आधार रहा - व्यक्ति की संकल्पशक्ति का जागरण। बहुत सारे व्यक्ति अणुव्रत के नियमों को स्वीकार करते। कुछ लोग प्रतिकूल परिस्थितियों में और अधिक दृढ़ बन जाते हैं किन्तु कुछ लोग चाह कर भी उस परिस्थिति में अडिग नहीं रह पाते। तब ऐसा अनुभव हुआ कि ऐसे लोगों की संकल्पशक्ति के विकास के लिए प्रायोगिक प्रक्रिया भी जुड़े। अणुव्रत-आचारसंहिता के सैद्धांतिक उपक्रम के साथ-साथ प्रायोगिक प्रक्रिया के रूप में प्रेक्षाध्यान के प्रयोग विकल्प के रूप में सामने आये।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी से प्रेरणा पाकर युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्य महाप्रज्ञ) ने सन् 1962 में प्रयोग प्रारम्भ किये। तेरह वर्ष तक निरन्तर दीर्घकालीन अनुसंधान व अन्वेषण से प्रेक्षाध्यान प्रयोग पद्धति समाज के सामने प्रस्तुत की। इसका नामकरण सन् 1975, जयपुर में हुआ। सन् 1977 में इसके विधिवत् शिविर प्रारम्भ हुए।

प्रेक्षाध्यान का यह सिद्धांत है कि "दृष्टिकोण बदल सकता है।" आदत, स्वभाव और व्यवहार में परिवर्तन हो सकता है। यह तथ्य शिविर काल में और अधिक स्पष्टता से उजागर और प्रमाणित हुआ। वृत्तियों को बदलने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय निर्दिष्ट किये गए। अनेक व्यक्तियों ने प्रयोग किये। अच्छे परिणाम आये और वे प्रयोग उन-उन वृत्तियों के परिष्कार के लिए निर्दिष्ट किये गये। यह क्रम पहले शिक्षा के साथ नहीं जुड़ा था, जन-सामान्य के साथ जुड़ा था। उसमें सफलता मिली और ऐसा लगा कि क्या इसका प्रयोग शिक्षा में नहीं हो सकता? विद्यार्थी को नहीं बदला जा सकता? समाधान मिला कि बड़े आदमी को बदलने की अपेक्षा छोटे बालकों को बदलना आसान है। चिंतन-मंथन चलते-चलते इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करना चाहिए। फलस्वरूप अणुव्रत के सिद्धान्तों, प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से युक्त एक पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया और उसे शिक्षा के साथ जोड़ा गया। इसी पाठ्यक्रम को नाम दिया गया— जीवन विज्ञान।

1.2.3 जीवन विज्ञान : नामकरण

वस्तुत: जीवन विज्ञान नामकरण से पूर्व इस सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति को क्या नाम दिया जाए इस विषय पर बहुत चिन्तन चला। नाम की चर्चा और चिन्तन में अनेक नाम सामने आये- योग शिक्षा, नैतिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, मूल्यपरक शिक्षा आदि। अनेक दृष्टियों से विचार हुआ परन्तु सभी नाम किसी न किसी कारण से अनुपयुक्त रहे।

योग शिक्षा

अनेक शिक्षा आयोगों का अभिमत रहा कि इस शिक्षा को योग शिक्षा नाम दिया जाए। परन्तु इस नाम की अपनी सीमाएं थी। आज योग का अर्थ केवल आसन-प्राणायाम तक ही सीमित कर दिया गया है। जबकि नये पाठ्यक्रम का विषय-वस्तु विस्तृत था। अहिंसा, अनेकान्त जैसे विस्तृत विषय-वस्तु से युक्त पाठ्यक्रम को केवल योग-शिक्षा नाम देना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इस नाम से समग्र विकास की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसलिए योग शिक्षा नाम पूर्णरूप से सटीक नहीं हुआ।

नैतिक शिक्षा

नैतिक शिक्षा इस नाम पर चिन्तन चला पर नैतिक शब्द अपने आप में स्पष्ट न था। नैतिक शिक्षा एक उपदेशात्मक प्रक्रिया है। उपदेश का प्रभाव व्यापक एवं स्थायी नहीं रहता। स्थायित्व के लिए प्रयोग एवं अभ्यास आवश्यक हैं। नये पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य प्रयोग एवं अभ्यास था परन्तु नैतिक शिक्षा नाम देने से नये पाठ्यक्रम के मुख्य उद्देश्य की स्पष्टता का अभाव हो रहा था। अतः यह नाम भी उपयुक्त नहीं लगा।

स्वास्थ्य शिक्षा

इसका भी क्षेत्र सीमित है। यह भी शरीर तक ही सीमित रह जाता है। इससे सामाजिक विकास, अध्यात्मिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए यह नाम भी सटीक प्रतीत नहीं हुआ।

मूल्य परक शिक्षा

यह सही है कि जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा भी है परन्तु उक्त नाम देने में कुछ कठिनाइयाँ आई। वे यह थी कि केन्द्रीय सरकार इस नाम पर कार्य कर रही थी। इसलिए नये नाम का चिन्तन चलता रहा। परिणामस्वरूप नया नाम सामने आया – जीवन विज्ञान।

1.3 जीवन विज्ञान : स्वरूप

1.3.1 जीवन विज्ञान : अर्थ

जीवन विज्ञान – जीवन और विज्ञान इन दो शब्दों के योग से बना है।

जीवन को परिभाषित करते हुए कहा गया – ''**जीवन प्राणधारणं**''।

प्राण को धारण करना जीवन है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवन का अर्थ है – शरीर, प्राण, मन, चित्त, कर्म और भाव का सम्मिलित रूप। विज्ञान का अर्थ है- विशेष रूप से वस्तु के स्वरूप को जानना।

इस अर्थ में जीवन विज्ञान का अर्थ है— जीवन के मूलभूत अंग, जीवन के सम्पूर्ण पक्ष, जीवन के सही स्वरूप को विशेष रूप से जानने वाला विज्ञान। सरल शब्दों में कहा जाए तो जीवन विज्ञान चारित्रिक और नैतिक विकास की सैद्धांतिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है।

जीवन विज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा गया –

1. जीवन विज्ञान सम्यक् जीवन जीने की कला के विज्ञान का प्रशिक्षण है।
2. जीवन विज्ञान अहिंसा की शिक्षा, नैतिकता की शिक्षा, आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा पद्धति का नाम है।
3. शिक्षा में 'अणुव्रत' और 'प्रेक्षाध्यान' की समन्वित पद्धति का नाम जीवन विज्ञान है।
4. जीवन के नियमों की खोज का नाम जीवन विज्ञान है।
5. जीवन के मुख्य अंगों पर विचार एवं प्रयोग का नाम जीवन विज्ञान है।

जीवन विज्ञान के विविध पहलुओं के आधार पर इस 'नई विद्या शाखा' को समग्रता से इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है— ''जीवन विज्ञान वह विज्ञान है, जो जीवन के मुख्य अंग, उनके विकास के साधन एवं उनका जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग का वैज्ञानिक अध्ययन करता है, जिसकी परिणति संतुलित जीवन, मानवीय मूल्य एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास के रूप में होती है।''

1.3.2 जीवन विज्ञान : संतुलित शिक्षा प्रणाली

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवन विज्ञान का अर्थ है – संतुलित शिक्षा प्रणाली। वस्तुतः शिक्षा के चार आयाम हैं – 1. शारीरिक विकास, 2. बौद्धिक विकास, 3. मानसिक विकास और 4. भावात्मक विकास।

1. शारीरिक विकास- शारीरिक विकास शरीर से संबंधित है। शरीरक्रिया विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में ग्यारह तंत्र हैं— पाचन तन्त्र, श्वसन तन्त्र, उत्सर्जन तन्त्र, अस्थि तन्त्र, नाड़ी तन्त्र, ग्रंथि तन्त्र, प्रजनन तन्त्र, त्वचा तन्त्र, मांसपेशी तन्त्र, रक्तपरिसंचरण तन्त्र आदि। इन तन्त्रों का योग है— शरीर। यदि इनमें किसी प्रकार का विकार पैदा हो जाए अथवा यह सम्यक् रूप से कार्य न करें तो शरीर का समुचित विकास नहीं माना जाता। इनकी सम्यक् क्रियान्विति ही शारीरिक विकास है।

2. बौद्धिक विकास– हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकोष्ठ हैं। स्मृति, बुद्धि, चिन्तन सबके अलग-अलग प्रकोष्ठ हैं। हमारा बौद्धिक विकास बुद्धि के प्रकोष्ठों से संबंधित है। जितना-जितना इन प्रकोष्ठों की कार्य करने की क्षमता का विकास होता है, उतना ही बौद्धिक विकास माना जाता है।

3. मानसिक विकास– इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को वर्तमान काल में ही ग्रहण कर पाती हैं किन्तु मन इन्द्रियों द्वारा ग्रहित सभी विषयों और कालों को ग्रहण कर चिन्तन करने वाला होता है। अत: मन को परिभाषित करते हुए कहा गया—'सर्वार्थग्राही त्रैकालिकं मन:'। मन के तीन कार्य हैं— स्मृति, चिन्तन, कल्पना। ये तीनों सकारात्मक भी हो सकते हैं और नकारात्मक भी। सम्यक् स्मृति, सम्यक् चिन्तन, सम्यक् कल्पना मानसिक विकास को दर्शाते हैं, तो गलत स्मृति, गलत चिन्तन और गलत कल्पना अविकसित मानसिकता के लक्षण हैं।

4. भावात्मक विकास– संवेग एक जटिल भावात्मक प्रक्रिया है। भाव संवेग की ही पूर्व अवस्था है। भावों में उफान के पश्चात् संवेग की अवस्था बनती है। भाव व्यक्ति के भीतर में विद्यमान होते हैं। निमित्त पाकर बाहर प्रकट होते हैं। भाव भी सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के होते हैं— सहिष्णुता, विनम्रता, प्रेम, वात्सल्य, सहानुभूति ये सब सकारात्मक भाव हैं। वहीं घृणा, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, शंका आदि नकारात्मक भाव हैं। इन नकारात्मक भावों का प्रबल होना भावात्मक ह्रास है। सकारात्मक भावों में वृद्धि होना भावात्मक विकास का लक्षण है।

संतुलित शिक्षा प्रणाली का तात्पर्य एक ऐसी शिक्षा प्रणाली से है जो इन सभी आयामों पर ध्यान दे। जो सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्नशील हो। जीवन विज्ञान इसी ओर उठाया गया एक कदम है। यह संतुलित व्यक्तित्व विकास के लिए चार तथ्यों पर ध्यान देता है।

1. प्राणधारा का संतुलन– मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और संतुलन आवश्यक है। कुण्डलिनी योग के अनुसार हमारे शरीर में 72000 या इससे भी कहीं अधिक नाड़ियां हैं, जिनसे प्राण, जीवनी शक्ति, प्रेरणाएँ तथा अन्यान्य ऊर्जाएँ विद्युत तरंगों के समान बहती हैं तथा शरीर के विभिन्न कोशों और अंगों को स्वास्थ्य तथा तालबद्धता को सही सलामत रखती हैं। इन 72000 नाड़ियों में भी तीन महत्त्व की हैं। ये तीन नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहलाती हैं। पिंगला को सूर्य नाड़ी भी कहते हैं तथा इड़ा को चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं। इड़ा और पिंगला इन दोनों का प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज की शरीरशास्त्रीय भाषा में इनकी तुलना पेरा सिंपेथेटिक नर्वस् और सिंपेथेटिक नर्वस् से की जाती है। जब प्राण का एक प्रवाह अधिक सक्रिय होता है, उद्दंडता और उच्छृंखलता पनपती है, हिंसक और तोड़फोड़ की वृत्ति बढ़ती है। यह सारा कार्य दायीं प्राणधारा की सक्रियता का परिणाम है। यदि प्राणधारा का बायां प्रवाह सक्रिय होता है तो व्यक्ति में हीनभावना का विकास होता है, भय की वृत्ति होती है, दुर्बलता आती है। दोनों में संतुलन अपेक्षित है। जब दोनों में संतुलन सधता है तब संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। तब न हीनभावना पनपती है, न उद्दण्डता बढ़ती है। न अनुशासनहीनता आती है और न भय की वृत्ति होती है। जीवन विज्ञान इन दोनों प्राणधारा के सन्तुलन का प्रयास करता है।

2. जैविक संतुलन– आज के मेडिकल साइन्स ने मस्तिष्कीय खोजों द्वारा यह प्रस्थापित किया है कि आदमी के मस्तिष्क का बायां हिस्सा (left hemisphere) स्कूलीय अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है। तर्क, गणित और भाषा का जितना कार्य है, यह सारा बाएं हिस्से का कार्य है। आज मस्तिष्क पर और उसकी कार्य-प्रणाली पर प्रतिवर्ष अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें अनेक रहस्योद्घाटन हो रहे हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क की रचना और उसकी कार्य-प्रणाली की पूरी जानकारी हो गई है। बहुत अल्प जानकारी हुई है। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि मस्तिष्क का बायां हिस्सा बौद्धिक विकास के लिए उत्तरदायी है। अध्यात्म, अन्तश्चेतना का विकास, आन्तरिक वृत्तियों का विकास यह सब दायें मस्तिष्क का काम है। यह इनके विकास और ह्रास के लिए उत्तरदायी है। आज बायां हिस्सा अधिक सक्रिय हो गया है। दायां हिस्सा सोया रह गया है। सन्तुलित व्यक्तित्व विकास के लिए मस्तिष्क के दोनों हिस्सों का सन्तुलन जरूरी है। जीवन विज्ञान असंतुलन की इस खाई को भरने का प्रयास करता है।

3. क्षमता की आस्था का जागरण– जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में अनंत ज्ञान होता है, अनन्त शक्ति होती है। यह प्राचीन दर्शन की भाषा है। आज का विज्ञान भी इसी भाषा में बोलने लग गया है। अभी कुछ वर्ष पूर्व सुपर लर्निंग की प्रणाली विकसित हुई। डॉ. लॉपनोव ने इस प्रणाली को जन्म दिया। उसका यह सिद्धान्त है कि हमारे मस्तिष्क में सीखने की अनन्त क्षमता है। उसको विकसित किया जा सकता है। उसने उसके प्रयोग किए। जो बच्चा पांच-दस शब्द याद करने में हिचकिचाता था, उसको इस प्रणाली से हजारों शब्द याद

करा दिये गए। इस प्रकार विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि हमारे मस्तिष्क में अनन्त क्षमताएं हैं परन्तु आदमी उन क्षमताओं का पांच-सात प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। जो उसका दस प्रतिशत उपयोग करने लग जाता है, वह महान् व्यक्ति बन जाता है। जो उपयोग नहीं कर पाता, उसकी सारी क्षमताएं सोयी रह जाती हैं।

जीवन विज्ञान का कार्य विद्यार्थियों में इस आस्था को जागृत करना है कि हमारे भीतर अनन्त क्षमताएं हैं और हम उसका उपयोग कर सकते हैं, उनसे लाभ उठा सकते हैं।

4. परिष्कार- जीवन विज्ञान का चौथा अर्थ है– परिष्कार। यह परिष्कार तीन आयामों में होता है– दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यवहार का परिष्कार और भावना का परिष्कार। मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभावना – ये तीनों मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। किसी भी राष्ट्र के उत्थान और पतन का इतिहास पढ़ें, किसी भी समाज और व्यक्ति के उत्थान और पतन की कहानी पढ़ें, उसकी गहराई में उपरोक्त तीन बातें मिलेंगी। उत्थान के भी तीन कारण हैं- सम्यग् दृष्टिकोण, सम्यग् व्यवहार और सम्यग् भाव। जीवन विज्ञान विद्यार्थी का परिष्कार चाहता है। वह चाहता है कि उसकी दृष्टि बदले, व्यवहार बदले और भावना बदले। वैज्ञानिक खोजों के अनुसार इन सब पर हाइपोथेलेमस और ग्रंथि तंत्र का नियन्त्रण है। जीवन विज्ञान ग्रंथि तन्त्र के स्रावों का परिष्कार कर दृष्टि, व्यवहार और भाव का परिष्कार करना चाहता है। इसीलिए आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है, जिसमें जीवन को संतुलन बनाने के विविध उपाय निर्दिष्ट हैं।

1.3.3 जीवन विज्ञान : प्रकृति

प्रकृति का अर्थ है 'वस्तु का स्वरूप'। जीवन विज्ञान की प्रकृति का अर्थ है – जीवन विज्ञान क्या है? उसका वस्तु स्वरूप क्या है? जीवन विज्ञान के स्वरूप को जानने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओं का उपयोग कर सकते हैं –

1. नई विद्या शाखा- शिक्षा जगत् में विद्या की अनेक शाखाएं है। प्राय: शाखाओं का उद्देश्य ज्ञान प्रदान करना तथा मानव मात्र की बौद्धिक क्षमता का विकास कर अर्थोपार्जन के योग्य बनाना ही रहा है परन्तु जीवन विज्ञान एक नई विद्या शाखा है। इसका मूल लक्ष्य विद्यार्थी को जीविकोपार्जन के साथ जीने की कला सिखाना है। जीवन को सिद्धान्तों के साथ प्रयोगों से आप्लावित कर उसे जीने का एक नया मार्ग दिखाना है। यह एक ऐसी विद्या शाखा है जिसका प्रयोग चेतना के जागरण के लिए किया जाता है। नैतिक एवं चारित्रिक विकास केवल उपदेशों से सम्भव नहीं है। इसके लिए आवश्यक है चेतना का रूपान्तरण, हृदय परिवर्तन। हृदय परिवर्तन के लिए आवश्यक है अपने आपको जानना, स्वयं को पहचानना। यह स्वयं को पहचानने तथा आत्मा के निकट ले जाने वाली नवीन विद्याशाखा है।

2. समन्वित शिक्षा पद्धति – जीवन विज्ञान एक संतुलित एवं परिपूर्ण विद्या शाखा है। संतुलित इसलिए है कि इसमें शारीरिक व बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानसिक व भावनात्मक विकास का संतुलन स्थापित किया गया है। परिपूर्ण इसलिए है कि इसमें सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ प्रायोगिक अभ्यास भी अनिवार्य है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में "जीवन विज्ञान समन्वित शिक्षा पद्धति का नाम है। इसमें अहिंसा की शिक्षा, नैतिक शिक्षा और आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा – तीनों का समन्वय है। इसे शिक्षा के क्षेत्र में 'अणुव्रत' और 'प्रेक्षाध्यान' के समन्वय से विकसित किया गया है।"

3. नियमों की खोज – विज्ञान का अर्थ है–नियमों की खोज। भौतिक विज्ञान में भौतिक पदार्थों के अध्ययन के द्वारा नियमों की खोज की जाती है। रसायन विज्ञान में रासायनिक पदार्थों के अध्ययन के द्वारा नियमों की खोज की जाती है। इसी प्रकार "जीवन विज्ञान" में जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन द्वारा नियमों की खोज की जाती है, जिससे उसके उपयोग द्वारा जीवन के सभी पक्षों का विकास किया जा सके।

जीवन के मुख्य तीन पक्ष हैं–ज्ञानात्मक पक्ष, भावात्मक पक्ष एवं क्रियात्मक पक्ष। इस सन्दर्भ में जीवन विज्ञान के मुख्य तीन लक्ष्य हैं–

1. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे इन तीनों पक्षों का परिष्कार किया जा सके।
2. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे भावात्मक विकास और बौद्धिक विकास में संतुलन स्थापित किया जा सके।
3. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे प्रज्ञा को, अन्त:करण को, शुद्ध चेतना को जगाया जा सके। अचेतन मन को परिष्कृत किया जा सके।

4. प्रयोगात्मक विज्ञान – आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन विज्ञान के मुख्य सात अंग है— शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म, चित्त। इन सातों अंगों की समष्टि का नाम जीवन है। स्वस्थ जीवन जीने के लिये इन सातों अंगों के विकास पर ध्यान देना बहुत जरूरी

है। जीवन विज्ञान में इन सातों अंगों पर 'प्रेक्षाध्यान' के प्रयोग निर्धारित किये गये हैं। इन अंगों का प्रेक्षाध्यान के साथ क्या सम्बन्ध हैं इस पर स्पष्ट रूप से वैज्ञानिक विवेचन है। अत: जीवन विज्ञान एक नई विद्या शाखा, समन्वित शिक्षा पद्धति, नियमों की खोज के साथ-साथ एक विशिष्ट प्रयोगात्मक विज्ञान है।

1.3.4 जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य

शिक्षा जगत में अनेक विद्याशाखायें हैं। जब-जब नये-नये प्रश्न, जिज्ञासायें एवं समस्याएं उभरती है तब-तब उन्हीं जिज्ञासा एवं समस्या समाधान के संदर्भ में नई-नई विद्याशाखाएँ भी उभरती रहती हैं। प्रत्येक विद्याशाखा का समस्याओं के समाधान में एक निश्चित दृष्टिकोण रहता है। उसका अपना परिप्रेक्ष्य रहता है। उसके अध्ययन के कुछ अपने मुख्य लक्ष्य व उद्देश्य रहते हैं। अपने लक्ष्य एवं दृष्टिकोण से अध्ययन व अनुसंधान होने पर उसका विकास क्रम आगे से आगे बढ़ता है। कालान्तर में समस्या-समाधान में वह विद्या शाखा एक नई दृष्टि प्रदान करती है। जिससे व्यक्ति और समाज लाभान्वित होते हैं। जीवन विज्ञान एक नई विद्या-शाखा है, उसके भी अपने लक्ष्य एवं उद्देश्य हैं।

लक्ष्य

1. जीवन के परिष्कार द्वारा आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करना।

2. जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं चैतसिक प्रक्रियाओं पर योग एवं प्रेक्षाध्यान की प्रक्रियाओं के प्रभावों का वैज्ञानिक अध्ययन करना।

3. जीवन के उन नियमों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन एवं अन्वेषण करना जिससे जीवन के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष का परिष्कार होता है।

4. स्वस्थ समाज की संरचना के लिये ऐसे व्यक्तित्व (प्रशिक्षक) का निर्माण करना जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों हेतु स्वस्थ जीवन की प्रायोगिक अभ्यासात्मक प्रक्रियाओं को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सकें। इसके माध्यम से वह समग्र व्यक्तित्व एवं स्वस्थ समाज के निर्माण में सहभागी बन सकें।

उपरोक्त लक्ष्यों द्वारा जीवन-विज्ञान अनेक उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है —

1. बौद्धिक और भावात्मक विकास का संतुलन।
2. संवेग और विवेक में सामंजस्य।
3. सामाजिकता और वैयक्तिकता में सामंजस्य।
4. मानवीय संबंधों में परिवर्तन।
5. नैतिक मूल्यों का विकास।
6. आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।
7. मानवीय समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता का विकास।
8. पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ अच्छे ढंग से जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण।
9. संवेग नियंत्रण की पद्धति सिखाना।
10. सामाजिक व्यवहार को निश्छल एवं मैत्रीपूर्ण बनाना।
11. मादक वस्तुओं के सेवन से मुक्ति दिलाना।
12. जीवन की समस्याओं के समाधान की खोज एवं स्वस्थ जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करना।
13. स्वयं की शक्तियों से परिचय कराना एवं उपयोग करने में दक्ष बनाना।

बोध प्रश्न-1

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

1. जीवन विज्ञान का उद्भव कैसे, किन परिस्थितियों में हुआ एक लेख लिखिये?

2. जीवन विज्ञान के नामकरण की चर्चा करते हुए इसके अर्थ एवं परिभाषा पर प्रकाश डालिये?

3. जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? स्पष्ट करें।

4. सर्वांगीण विकास को स्पष्ट करते हुए जीवन विज्ञान की प्रकृति पर प्रकाश डालें?

1.4 जीवन विज्ञान : प्रविधियाँ

किसी भी व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के पतन का मुख्य कारण है – मिथ्या दृष्टिकोण, असद् व्यवहार एवं असत् भावना। ये तीनों कारण व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक को किसी भी स्तर पर गिरा सकते हैं। वहीं व्यक्ति से लेकर राष्ट्र उत्थान के लिए भी तीन बातें– सम्यक् दृष्टिकोण, सम्यक् व्यवहार एवं सम्यक् भावना की आवश्यकता होती है। इसीलिए जीवन विज्ञान ने छात्रों के दृष्टिकोण परिवर्तन, व्यवहार परिवर्तन एवं भाव परिवर्तन पर ज्यादा ध्यान दिया है। इस परिवर्तन से ही छात्रों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावात्मक विकास संभव है।

उक्त परिवर्तन एवं विकास के लिये जीवन विज्ञान ने जिन मूल तत्त्वों को अपनाया है, उसे प्रविधियाँ कहा जाता है। जीवन विज्ञान में अनेकान्त, अहिंसा, अणुव्रत एवं प्रेक्षाध्यान आदि चार प्रविधियाँ अर्थात् साधन हैं, जिनके द्वारा छात्रों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है।

1. अनेकान्त– हमारा जीवन सुख-दु:ख आदि विरोधी युगलों के आधार पर चलता है। यदि विरोधी युगल समाप्त हो जाएं तो हमारा जीवन भी समाप्त हो जाएगा। अनेकान्त इस सत्य को प्रकट करता है। वस्तु को समग्रता के दृष्टिकोण को स्वीकार कर आगे बढ़ता है।

किसी एक वस्तु को देखने का दृष्टिकोण प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग हो सकता है और सभी के दृष्टिकोणों में सत्य का अंश हो सकता है। किन्तु हम कई बार अपने दृष्टिकोण के प्रति आग्रह कर लेते हैं कि मैं ही सही हूँ। यह आग्रह द्वेष और हिंसा को जन्म देता है। दूसरों के दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझने के प्रयास से परस्पर सम्मान, सौहार्द्र, प्रेम आदि का विकास होता है।

अनैकान्तिक दृष्टिकोण मानव जीवन के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विद्यार्थी का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही व्यापक एवं उदार बने, इस दृष्टि से जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम में अनेकान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

उद्देश्य—

◦ व्यक्ति संतुलित जीवन यापन कर सके। ◦ परिवार और समाज में सह-अस्तित्व को और अधिक विकसित कर सके।

◦ सापेक्षता को समझ सके। ◦ सभी को सम्मान दे सके।

पाठ्यक्रम— अनेकान्त, व्यवहार-सिद्धान्त और प्रक्रिया, सह-अस्तित्व, समन्वय, सापेक्षता, स्वतंत्रता, संतुलन, परिवर्तन, आशावादी दृष्टिकोण।

शिक्षण विधि—

◦ सैद्धान्तिक— व्याख्यान, परिचर्चा, वाद-विवाद।

◦ प्रायोगिक— कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा— समन्वय, सहिष्णुता आदि।

2. अहिंसा— समस्या का समाधान भय या हिंसा के द्वारा ही हो सकता है, यह विश्वास कुछ समय पहले तक अधिकांश लोगों के मन में था। लेकिन हिंसा के साधन पत्थर से परमाणु बम तक हो जाने के बाद भी जब मनुष्य को शांति नहीं मिली तब उसे लगने लगा कि समस्या का समाधान हिंसा नहीं है। बल्कि हिंसा से और अधिक समस्याओं का जन्म हुआ है। आज हिंसा के साधनों के विकास में अधिकांश देशों में इतना ज्यादा खर्च हो रहा है कि वह अपने देश की गरीबी, शिक्षा, चिकित्सा जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों की तरफ तो पूरा ध्यान ही नहीं दे पा रहे हैं। अत: विद्यार्थियों में प्रारम्भ से ही अहिंसा के प्रति निष्ठा जागे, अहिंसक चेतना का विकास हो, इस दृष्टि से जीवन विज्ञान ने इसे अपनी प्रविधि के रूप में स्वीकार किया है।

उद्देश्य— 1. मनुष्य अपनी इच्छाओं का संयम करे।2. अहिंसक प्रतिकार करना सीखे।3. प्रत्येक मनुष्य अहिंसक जीवनशैली अपनाए।
4. विश्वशांति। 5. सर्वधर्म समभाव। 6. शोषण की समाप्ति।

पाठ्यक्रम— अहिंसक समाज संरचना विधि एवं निष्पत्तियाँ, विभिन्न धर्म-दर्शनों में अहिंसा का स्वरूप, अहिंसा का व्यवहार,

अहिंसा-प्रशिक्षण का आधार एवं स्वरूप, अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण, अहिंसक व्यवहार की प्रक्रिया और लाभ।

शिक्षण विधि —

○ **सैद्धान्तिक**— व्याख्यान विधि, वाद-विवाद, परिचर्चा, कहानी।

○ **प्रायोगिक**— आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग आदि।

○ **अनुप्रेक्षा**— आत्मसंयम, अहिंसा, साम्प्रदायिक एकता, मानवीय एकता, ऋजुता।

3. अणुव्रत- एक समय था जब मनुष्य नैतिक अधिक था। उसमें बुराइयाँ कम थीं। उसके मन में दुर्बलताएँ नहीं थी इसलिए समाज में मूल्यों से संबंधित कोई आंदोलन नहीं था। गुरु एवं साधु संतों की वाणी को प्रायः व्यक्ति भगवान की वाणी मानकर उसका पूरा पालन करते थे। शनैः शनैः इन सबमें शिथिलता आने लगी। आजादी के पश्चात् तो देशवासियों की स्थिति सुधरने की बजाय और खराब हो गई। धर्म के नाम पर दंगे और अधिक होने लगे। नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव पैदा होने लगा। इसलिए नैतिक आंदोलन की आवश्यकता बढ़ गई। नैतिकता के पुनर्जागरण हेतु आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रतों का सूत्रपात किया। गणाधिपति श्री तुलसी द्वारा चलाये गये इस अणुव्रत आंदोलन को जन-मानस का काफी समर्थन मिला। अणुव्रत आंदोलन जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ। विद्यार्थियों में भी नैतिक मूल्यों के प्रति जागरूकता एवं प्रतिबद्धता बढ़े, इस दृष्टि से इसको शैक्षिक पाठ्यक्रम में लिया गया।

उद्देश्य

1. व्रत द्वारा सामाजिक समस्याओं का समाधान।
2. समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना।
3. सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना।
4. पर्यावरण की सुरक्षा।
5. व्यसन मुक्त जीवन जीने के लिए प्रेरित करना।
6. स्वस्थ राजनीति।
7. व्यवसाय में प्रामाणिकता।
8. छात्रों का चारित्रिक विकास।

पाठ्यक्रम— अणुव्रत का स्वरूप, अणुव्रत आंदोलन, अणुव्रत नियमों की विवेचना, नशामुक्ति आदि।

शिक्षण विधि —

○ **सैद्धान्तिक**— व्याख्यान विधि, वाद-विवाद, परिचर्चा, कहानी।

○ **प्रायोगिक**— आसन, प्राणायाम, दीर्घश्वास प्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अनुप्रेक्षा, चित्र प्रदर्शनी, रैली, संकल्प-पत्र भरवाना आदि।

4. प्रेक्षाध्यान—प्रेक्षाध्यान जीवन विज्ञान का प्रायोगिक आधार है। जीवन विज्ञान अपने उद्देश्यों को प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों के माध्यम से ही प्राप्त करता है। अनेकान्त, अहिंसा और अणुव्रत जीवन विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष हैं तथा प्रेक्षाध्यान जीवन विज्ञान का प्रायोगिक पक्ष है। इसके मुख्य अंग— कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अनुप्रेक्षा एवं भावना है तथा सहायक अंग— ध्वनि, मुद्रा, आसन एवं प्राणायाम हैं। विशिष्ट अंगों में अनिमेष प्रेक्षा, वर्तमान क्षण की प्रेक्षा एवं विचार प्रेक्षा हैं।

उपरोक्त सभी अंगों का शरीर तथा मन पर पड़ने वाले प्रभावों को जांचा जा सकता है।

उद्देश्य —

○ चित्त की शुद्धि।

○ मूल्यों की स्थापना करना।

○ प्रज्ञा का जागरण करना।

○ आन्तरिक क्षमताओं को जगाना।

○ भौतिकता से आध्यात्मिकता की तरफ ले जाना।

○ आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण।

पाठ्यक्रम —

○ प्रेक्षाध्यान के सभी अंगों का आध्यात्मिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण।

○ विभिन्न क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता।

शिक्षण विधि —

सैद्धान्तिक— व्याख्यान विधि, प्रदर्शन विधि।

प्रायोगिक —

○ ध्यान के प्रयोग, आसन, प्राणायाम।

◦ शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को उपकरणों के द्वारा जांचने के प्रयोग।
◦ मनोवैज्ञानिक प्रयोग।

1.5 जीवन विज्ञान : मूल अंग

बहुत बार लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि जीवन क्या है? परन्तु इसका कोई एक उत्तर नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसे परिभाषित किया है। कोई कहता है जीवन एक संघर्ष है, कोई कहता है जीवन एक लक्ष्य है, जीवन एक अवसर है, जीवन एक यात्रा है, जीवन एक खेल है। इस प्रकार अनेक परिभाषाएँ सामने आती हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में ''शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म और चित्त— इन सात घटकों का सम्मिलित रूप है—जीवन।'' इन सातों में से किसी भी एक को पृथक् कर जीवन को समग्र रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। व्यक्ति जीवन जीता है। केवल जीना उसका लक्ष्य नहीं है अपितु प्रत्येक व्यक्ति एक अच्छा और सुखमय जीवन जीना चाहता है।

सुखमय जीवन जीने के लिए जीवन के सातों अंगों को प्रशिक्षित करना जरूरी है, क्योंकि इनको प्रशिक्षित न करने पर यह हमारे सुखमय जीवन के बाधक भी बन सकते हैं। जीवन विज्ञान में इन सातों को प्रशिक्षित करने के महत्त्वपूर्ण उपाय निर्दिष्ट हैं।

1. शरीर- जीवन का पहला घटक तत्त्व है– शरीर। शरीर को परिभाषित करते हुए कहा गया– **सुखदुखानुभव साधनं शरीरम्**। जो सुख और दु:ख के अनुभव का साधन है, वह शरीर है। मनुष्य का शरीर बहुत रहस्यमय है। इसमें अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। शरीर क्रिया विज्ञान ने अनेक रहस्यों को प्रकट भी किया है फिर भी बहुत कुछ छिपा हुआ है। जीवन विज्ञान के सन्दर्भ में शरीर को पढ़ना हो तो पढ़ने का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। हमारे शरीर में कुछ ऐसे केन्द्र हैं, जहाँ चेतना सघन रूप से केन्द्रित होती है। प्रेक्षाध्यान की भाषा में उन्हें ''चैतन्य केन्द्र'' कहा जाता है। उन पर ध्यान के प्रयोग करवाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर ध्यान की निष्पत्ति भिन्न-भिन्न है। आध्यात्मिक शक्ति जागृत करने के लिए दर्शन केन्द्र पर ध्यान किया जाता है। नशामुक्ति के लिए अप्रमाद केन्द्र पर तो अनुशासित और आत्मनियंत्रण के लिए विशुद्धि केन्द्र पर ध्यान करवाया जाता है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में शरीर को पढ़ने से यह भी समझ में आता है कि भावात्मक परिवर्तन के केन्द्र कहाँ-कहाँ हैं और उन्हें प्रयोगों द्वारा कैसे परिवर्तित किया जा सकता है।

वस्तुत: शरीर के मुख्य दस तन्त्र है। इन दसों तन्त्रों को प्रयोगों द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है। एक व्यक्ति के जीवन में हिंसा, साम्प्रदायिकता, उत्तेजना, शांति, कलह आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन सबके लिये केवल मन और भाव ही उत्तरदायी नहीं होते हैं, शरीर भी उत्तरदायी होता है। अत: एक स्वस्थ जीवन जीने के लिए शरीर को प्रशिक्षित करना बहुत जरूरी है। इसी दृष्टि से जीवन विज्ञान ने शरीर को प्रशिक्षित करना पहला कर्त्तव्य माना है। फलत: इसमें शारीरिक प्रशिक्षण के निम्न साधन निर्दिष्ट हैं– 1. आसन, यौगिक क्रियाएँ, 2. कायोत्सर्ग, शरीर प्रेक्षा, 3. अनुप्रेक्षा– सुझाव और संकल्प का प्रयोग।

2. श्वास- जीवन का दूसरा घटक तत्त्व है– श्वास। श्वास का हमारे जीवन में बहुत महत्त्व है। क्षण भर के लिए श्वास के बिना व्यक्ति बेचैन हो जाता है तो कुछ क्षणों में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति आहार के बिना कुछ समय रह सकता है पर श्वास के बिना कुछ सैकण्ड रहना भी कठिन हो जाता है। मनुष्य के लिए मस्तिष्क का महत्त्व सर्वविदित है। हमारा प्रत्येक कार्य मस्तिष्क पर निर्भर है। जैसा मस्तिष्क का आदेश होता है, शरीर वैसा ही कार्य करता है। परन्तु इस मस्तिष्क संचालन में श्वास का बहुत बड़ा हाथ है। मस्तिष्क के दो पटल हैं— दायां पटल और बायां पटल। दाहिने नाक से लिया गया श्वास बायें मस्तिष्क को सक्रिय करता है और बायें नाक से लिया गया श्वास दायें मस्तिष्क को। जीव के सम्यक् संचालन के लिए दायें और बायें पटल में सन्तुलन बहुत जरूरी है। अन्यथा हीनभावना, दब्बूपन, उच्छृंखलता आदि अवांछनीय तत्त्व जीवन में प्रविष्ट हो सकते हैं। इन तत्त्वों से स्वयं को बचाने तथा मस्तिष्कीय संतुलन के लिये श्वास को प्रशिक्षित करना बहुत जरूरी है। अन्यथा जीवन के लिये श्वास बाधक भी हो सकता है। श्वास को प्रशिक्षित करने के लिए जीवन विज्ञान में निम्न साधन निर्दिष्ट हैं– 1. समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा, 2. दीर्घ श्वास प्रेक्षा (रेचन, पूरक, कुम्भक के साथ), 3. अनुलोम-विलोम प्राणायाम।

3. प्राण- जीवन का तीसरा घटक तत्त्व है– प्राण। प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया– **जीवनी शक्ति: प्राण:**। जीवन जीने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह शक्ति प्राण है। प्राण सूक्ष्म है लेकिन जीवन संचालन के लिए एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। हमारे शरीर की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे प्राण द्वारा संचालित होती हैं। प्राण न हो तो व्यक्ति का जीवन ही समाप्त हो जाए। प्राण

पूरे शरीर में प्रवाहित रहता है। इसके प्रवाह में किसी भी प्रकार का असन्तुलन रुग्णता का परिचायक है। प्राण असंतुलित होते ही मनुष्य रुग्ण हो जाता है, क्योंकि हमारा शरीर प्राण से संचालित है। मन और वाणी का संचालन इसी से होता है। इसलिए एक स्वस्थ जीवन जीने के लिए प्राण का संतुलन और प्राण को संतुलित रखने के लिये प्राण को प्रशिक्षित करना बहुत जरूरी है। 'प्रेक्षाध्यान पद्धति' में प्राण को संतुलित रखने के निम्न साधन निर्दिष्ट हैं – 1. तैजस् केन्द्र प्रेक्षा, 2. विशुद्धि केन्द्र प्रेक्षा, 3. शरीर प्रेक्षा, 4. समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, 5. प्राण केन्द्र (नाक के अग्र भाग) पर ध्यान।

4. मन– जीवन का चौथा घटक तत्त्व है – मन। मन क्या है, इसके सन्दर्भ में हमने पूर्व में चर्चा की है। वस्तुतः मन का सम्बन्ध हमारे मानसिक स्वास्थ्य से है। व्यक्ति के जीवन में मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य से भी अधिक मूल्यवान है। मन की अधिक चंचलता अधिक समस्याएँ उत्पन्न करती है। मन की एकाग्रता अनेक समस्याओं का समाधान है। 'प्रेक्षाध्यान पद्धति' में मन बाधक न बने इस दृष्टि से मन की एकाग्रता के लिये अनेक प्रयोग करवाये जाते हैं।

अनावश्यकता के बिन्दु पर न पहुंचें, इस दृष्टि से निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं– 1. दीर्घश्वास प्रेक्षा, 2. प्राणकेन्द्र प्रेक्षा, 3. दर्शनकेन्द्र प्रेक्षा, 4. अनिमेष प्रेक्षा, 5. विचार प्रेक्षा, 6. अनुप्रेक्षा।

5. भाव– जीवन का छठा घटक तत्त्व है – भाव। हमारे इस स्थूल शरीर के भीतर एक और सूक्ष्म शरीर है – तैजस् शरीर। भावों का निर्माण इसी शरीर में होता है। यह मन को संचालित करता है तथा स्थूल शरीर में चित्त को प्रभावित करता है। चित्त मस्तिष्क के माध्यम से जीवन की सारी प्रक्रियाओं को प्रभावित व संचालित करता है। चित्त की शुद्धि और अशुद्धि का मानदण्ड है भाव की शुद्धि और अशुद्धि।

मानसिक स्वास्थ्य का भी मूल आधार है– भावात्मक स्वास्थ्य। 'प्रेक्षाध्यान की पद्धति' में भाव-विशुद्धि के निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं – 1. लेश्या-ध्यान, 2. मैत्री की अनुप्रेक्षा, 3. करुणा की अनुप्रेक्षा, 4. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

6. कर्म– जीवन का सातवां घटक तत्त्व है – कर्म। जीवन में जो कुछ होता है, वह आकस्मिक, अहेतुक या परिस्थितिजनक ही नहीं होता, कुछ घटनाएँ परिस्थितियों से प्रभावित हो सकती हैं किन्तु अधिकांश घटनाओं के पीछे कोई हेतु होता है और वह है – कर्म। कुछ रोग भी कर्म के कारण होते हैं। अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं, जिसके कारणों को हम समझ नहीं पाते हैं परन्तु वह घटित हो जाती है। इसके पीछे कर्मशास्त्रियों ने कर्म को बहुत बड़ा कारण माना। कर्म की शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसे सर्वोपरि भी नहीं माना जा सकता। इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। कर्म को परिवर्तित करने के सूत्र हैं– 1. निर्विचार अथवा निर्विकल्प ध्यान, 2. अपाय विचय, 3. विपाक विचय, 4. लेश्या ध्यान, 5. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, 6. जप।

जीवन के अनगिनत रहस्यों को समझने और जीवन में परिवर्तन लाने के लिये इन सात पक्षों पर 'प्रेक्षाध्यान' के प्रभाव का वैज्ञानिक उपकरणों एवं मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से अध्ययन करना ही 'जीवन विज्ञान' का उद्देश्य, लक्ष्य और दृष्टिकोण है। जीवन को समग्रता से समझने के लिए उक्त सात बिन्दुओं पर ध्यान देना और उनके परिष्कार की चेष्टा करना मानवीय मूल्यों के विकास का प्रथम सोपान है।

7. चित्त– जीवन का पांचवा घटक है – चित्त। आत्मा एक ज्ञान सूर्य है। इस ज्ञान सूर्य से अनेक रश्मियाँ निकलती हैं। ज्ञान प्रकाश की एक रश्मि चित्त कहलाती है। चित्त अर्थात् चेतना की एक रश्मि हमारी चेतना से प्रभावित होती है और वह हमारे स्थूल शरीर को प्रभावित करती है। यह मस्तिष्क अथवा नाड़ी तन्त्र के माध्यम से जीवन की प्रत्येक क्रिया-शरीर, वाणी, मन को संचालित करता है। प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है – चित्त की विशुद्धि। चित्त की विशुद्धि के लिए निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं –

1. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, 2. राग-द्वेष मुक्त क्षण का अनुभव, 3. शुद्ध चैतन्य का अनुभव, 4. निर्विचार प्रेक्षा, 5. ज्ञाता-द्रष्टा भाव का प्रयोग, 6. भाव-क्रिया।

चित्त की शुद्धि होने पर ही मनुष्य मादक वस्तुओं के सेवन, अपराध और अनावश्यक हिंसा से बच सकता है।

बोध प्रश्न-2

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये –

1. जीवन विज्ञान की प्रविधियों से आप क्या समझते हैं, स्पष्ट करें?
2. शरीर, मन और प्राण को व्याख्यायित करते हुए जीवन विज्ञान के आधार पर इनके प्रशिक्षण की विधि बताइये?
3. जीवन विज्ञान के मूल अंग कौन-कौन से हैं? चर्चा करें?

इकाई 2 (क) जीवन विज्ञान एवं अन्य विद्या शाखाओं से उसका सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 जीवन विज्ञान और भौतिक विज्ञान
2.3 जीवन विज्ञान और जीव विज्ञान
2.4 जीवन विज्ञान और शरीर विज्ञान
2.5 जीवन विज्ञान और समाज विज्ञान
2.6 जीवन विज्ञान और दर्शन शास्त्र
2.7 जीवन विज्ञान और नीतिशास्त्र
2.8 जीवन विज्ञान और शिक्षाशास्त्र
2.9 जीवन विज्ञान और मनोविज्ञान
2.10 जीवन विज्ञान और पर्यावरण

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य जीवन-विज्ञान जो विद्या की एक नई शाखा है, उसका अन्य विद्या शाखाओं से क्या संबंध है? इसकी जानकारी देना है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप —

- जीवन विज्ञान का अन्य किन-किन विद्या-शाखाओं से संबंध है, समझ सकेंगे,
- भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, शरीर विज्ञान, समाज विज्ञान, दर्शन विज्ञान, नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, योगशास्त्र, मनोविज्ञान और पर्यावरण विज्ञान क्या है? समझ सकेंगे।
- जीवन विज्ञान के साथ अन्य विद्या-शाखाओं की समानताओं एवं असमानताओं की जांच कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

जीवन बहुआयामी है। वह अनेक तत्त्वों सें प्रभावित होता है। संतुलित जीवन जीने के लिए उन सब तत्त्वों को समझना आवश्यक है, जो जीवन को प्रभावित करते हैं। जीवन विज्ञान इसी सत्य को ध्यान में रखकर उठाया गया कदम है। यह अन्तर्विषयानुसंबंधी नई विद्या शाखा है। इसमें अर्वाचीन एवं प्राचीन, अध्यात्म और विज्ञान दोनों का समन्वय किया गया है। अत: इस विद्या शाखा में अनेक विद्या शाखाओं का समावेश है। मानव के ज्ञान-विज्ञान की समस्त शाखाएं एक दूसरे से संबन्धित हैं। उनकी कुछ सामान्य मान्यताएँ, सामान्य कठिनाईयाँ, सामान्य निष्कर्ष हैं जो उन्हें एक-दूसरे के समान बनाते हैं। फिर भी उनमें दृष्टिकोण, क्षेत्र, विधि, प्रकृति आदि को लेकर भिन्नतायें भी हैं जिसके कारण वे असमान और स्वतन्त्र हैं। ज्ञान की अनेक शाखाएँ हैं— भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, शिक्षा शास्त्र, समाज मनोविज्ञान, पर्यावरण विज्ञान आदि।

प्रस्तुत अध्ययन में ज्ञान की अन्य शाखाओं से जीवन विज्ञान के सम्बंध के विवेचन से जहां अन्य शाखाओं से उसकी समानतायें स्पष्ट होंगी, वहां अन्तर भी दिखाई पड़ेंगें। इससे जीवन विज्ञान के विद्यार्थियों को जीवन विज्ञान की विशेषतायें और रूपरेखा समझने में आसानी होगी।

2.2 जीवन विज्ञान और भौतिक विज्ञान

भौतिक विज्ञान पदार्थ का विज्ञान है। पदार्थ में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों एवं विभिन्न भेदों का अध्ययन है। प्रत्येक पदार्थ में स्वयं की शक्ति, गति एवं बल होता है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो इनसे रहित हो। द्रव्य में होने वाली गति, शक्ति, संवेग एवं बल का अध्ययन है-भौतिक विज्ञान। जिज्ञासा मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। वह जब किसी पदार्थ को देखता है, उसके मन में उसे जानने की जिज्ञासा

पैदा हो जाती है। पदार्थ क्या है? इसकी शक्ति कितनी है? पदार्थ कैसे गति करता है? आदि-आदि प्रश्न उसके मन में पैदा हो जाते हैं। इन्हीं सामान्य जिज्ञासाओं के समाधान का सैद्धान्तिक आधार है-भौतिक विज्ञान। जीवन विज्ञान के नाम से ही स्पष्ट है कि यह कोई पदार्थ का विज्ञान नहीं, द्रव्य और ऊर्जा का अध्ययन नहीं अपितु अभौतिक विज्ञान, आत्मा का विज्ञान है।

अत: यह कहा जा सकता है कि जीवन विज्ञान भौतिक विज्ञान से प्रत्यक्ष रूप से संबन्धित नहीं है फिर भी आधुनिक खोजों ने दोनों को एक-दूसरे का पूरक बनाया है। भौतिक विज्ञान आज अभौतिकता की ओर जा रहा है, स्थूल से सूक्ष्म, ज्ञेय पदार्थ से ज्ञाता की खोज की ओर अग्रसर हो रहा है। यह भौतिकता से प्रारम्भ होता है, द्रव्य के प्रकम्पनों से प्रारम्भ होकर सूक्ष्म कण, तरंग, ऊर्जा, शून्य और उससे भी आगे चैतन्य तक जा रहा है। द्रव्य का ऊर्जा के रूप में रूपान्तरण, उस ऊर्जा की कार्य-प्रणाली, ध्वनि विज्ञान आदि भौतिक विज्ञान के अनेक सिद्धान्त जीवन विज्ञान विषय को समझने में सहयोगी होते हैं।

जीवन विज्ञान में मंत्रों के विविध प्रयोग बताये गए हैं। इन मंत्रों का प्रभाव ध्वनि विज्ञान के आधार पर होता है, प्रवृत्ति से ऊर्जा का नाश तथा निवृत्ति से ऊर्जा का समायोजन आदि विषय जीवन विज्ञान के मुख्य विषय बनते हैं। जीवन विज्ञान पदार्थ के नियमों को जानकर, चेतना के नियमों की खोज करता है। चेतना की शक्ति पर नियत्रंण करके जीवन को संतुलित, स्वस्थ व सफल बनाने की दिशा में प्रयत्न करता है। इस प्रकार जीवन विज्ञान और भौतिक विज्ञान एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं। भौतिक विज्ञान के अनेक सिद्धान्त जीवन विज्ञान को आचरण में लाने के लिए सहयोगी बनते हैं। भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त जीवन विज्ञान के विविध प्रयोगों को जीवन में उतारने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जीवन विज्ञान के प्रयोगों को यदि भौतिक विज्ञान के साथ जोड़ा जाए तो इसके सिद्धान्तों का समुचित उपयोग हो सकता है।

समानताएं

भौतिक विज्ञान	जीवन विज्ञान
1. प्रयोग धर्मिता	1. प्रयोगों पर आधारित
2. पदार्थ से परमार्थ की ओर	2. पदार्थ के प्रकम्पनों से आत्म प्रकम्पनों की अनुभूति
3. द्रव्य में नये तथ्यों की खोज	3. नये तथ्यों की खोज (विशेष रूप से आत्मा के सन्दर्भ में)

असमानताएं

भौतिक विज्ञान	जीवन विज्ञान
1. पदार्थ पर पदार्थ के प्रभाव का अध्ययन	1. पदार्थ का आत्मा पर प्रभाव का अध्ययन
2. अध्ययन क्षेत्र पदार्थ तक सीमित	2. परमार्थ तत्त्वों का चिंतन एवं अध्ययन
3. पदार्थ के नियमों की खोज	3. जीवन के नियमों की खोज
4. भौतिक ऊर्जा का अध्ययन	4. प्राण ऊर्जा का अध्ययन

2.3 जीवन विज्ञान और जीव विज्ञान

विज्ञान की एक शाखा है— जीव विज्ञान। जिसे जीवशास्त्र भी कहते हैं। जीवशास्त्र जीवित प्राणियों की क्रियाओं का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जीवशास्त्र का सम्बन्ध उस विज्ञान से है जो प्राणियों के अस्तित्व, संवर्धन, शरीर रचना एवं इससे सम्बन्धित प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। प्राणी की उत्पत्ति, प्रकृति, विकास और परिवर्तन को समझने के लिए जैविकीय नियमों को समझना जरूरी है। यह जीव विज्ञान का कार्य है।

जीवन विज्ञान, जीवन के मुख्य अंग एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग जिससे कि संतुलित जीवन एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास हो सके, इन विषयों पर कार्य करता है।

अत: यह कहा जा सकता है कि जीव विज्ञान और जीवन विज्ञान दोनों की भिन्न-भिन्न विद्या शाखा है। दोनों विद्याओं का कार्य भिन्न है परन्तु कार्यक्षेत्र एक है। जीव विज्ञान का कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक है। यह समस्त जीवित प्राणियों का अध्ययन करता है परन्तु

जीवन विज्ञान का कार्यक्षेत्र इससे सीमित है। वह केवल मानव जीवन का अध्ययन करता है। फिर भी दोनों ही विद्याएं कहीं एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, दोनों ही विद्याएं जीव के विकास का अध्ययन करती हैं, अस्तित्व पर चिंतन करती हैं। 'चार्ल्स डार्विन' ने विकासवाद का सिद्धांत दिया। उन्होंने कहा – "Servival of the fittest in the struggle for existance" अर्थात् जीव में अस्तित्व के लिए संघर्ष होता है और प्रकृति की चयन योजना में योग्यतम ही बच पाते हैं। इसी सिद्धान्त को जीवन विज्ञान स्वीकार करता है और संघर्ष के लिए जीवन को तैयार करता है तथा मानव जीवन को योग्यतम बनाने का प्रयत्न करता है। प्राणायाम, ध्वनि, श्वासप्रेक्षा, अनुप्रेक्षा आदि प्रयोग व्यक्ति को अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने में सहायता करते हैं।

समानताएँ

जीव विज्ञान	जीवन विज्ञान
1. मानव जीवन का अध्ययन भी जीवशास्त्र का कार्यक्षेत्र है।	1. जीवन विज्ञान का भी कार्य क्षेत्र मानव जीवन का अध्ययन है।
2. सैद्धान्तिक	2. सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों
3. जीवन के लिए संघर्ष	3. अस्तित्व के लिए संघर्ष

असमानताएँ

जीव विज्ञान	जीवन विज्ञान
1. समस्त प्राणियों का अध्ययन	1. मनुष्य मात्र का अध्ययन
2. योग्यतम् की सुरक्षा का सिद्धान्त	2. प्रयोगों द्वारा योग्यता के विकास का सिद्धान्त
3. जीव शास्त्र मानव के शरीर का ही अध्ययन करता है।	3. जीवन विज्ञान मानव जीवन के समस्त घटक तत्त्वों—शरीर, श्वास प्राण आदि का अध्ययन करता है।

2.4 जीवन विज्ञान और शरीर क्रिया विज्ञान

हमारा शरीर अनेक यंत्रों द्वारा निर्मित एक जीवित मशीन है। जिस प्रकार मशीन में अनेक छोटे-बड़े यंत्र होते हैं, उसी प्रकार हमारे शरीर में भी अनेक अंग-प्रत्यंग हैं। शरीर के कुछ अवयव बाहर से प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते हैं और कुछ अवयव ऐसे हैं जो शरीर के अन्दर स्थित हैं। आन्तरिक तथा बाह्य अवयवों की उचित रक्षा के लिए हमें उन अवयवों की रचना तथा कार्य प्रणाली को जानना होता है। इस कार्य प्रणाली के अध्ययन को शरीर क्रिया विज्ञान कहते हैं। शरीर क्रिया विज्ञान के द्वारा मनुष्य के शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के कार्यों और उन कार्यों के होने के कारणों के साथ-साथ चिकित्सा शास्त्र के नियमों का भी ज्ञान होता है। कान सुनने का कार्य करता है, आँख देखने का काम करती है। शरीर क्रिया विज्ञान इन दोनों के रहस्य का ज्ञान कराता है। ध्वनि कान के पर्दे पर किस प्रकार पहुंचती है, प्रकाश की किरणें आंखों के लेंस पर किस प्रकार पड़ती हैं। शरीर कैसे बना हुआ है? शरीर के विभिन्न तन्त्र—कंकाल तंत्र, पेशी तन्त्र, पाचन तन्त्र, रक्त परिसंचरण तन्त्र, श्वसन तंत्र, तंत्रिका तंत्र, अन्तः स्रावी ग्रन्थितन्त्र, लसीका तन्त्र, उत्सर्जन तन्त्र किस प्रकार कार्य करते हैं? इन सबका ज्ञान हमें शरीर क्रिया विज्ञान से होता है। सरल शब्दों में कहें तो वह विज्ञान जो शरीर के कार्यों का अध्ययन करता है शरीर क्रिया विज्ञान कहलाता है। शरीर विज्ञान का मुख्य विषय वस्तु हमारा पूरा शरीर है।

जीवन विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो इन अवयवों एवं तन्त्रों का व्यवहार परिवर्तन एवं आत्मोपलब्धि के लिए उपयोग करता है। चूंकि जीवन विज्ञान का एक पक्ष है— प्रेक्षाध्यान। प्रेक्षाध्यान के मुख्य आठ अंग है- कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्य केन्द्रप्रेक्षा, लेश्याध्यान, श्वासप्रेक्षा आदि। इन सभी प्रयोगों के लिए शरीर का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा व्यक्ति जिन ग्रन्थियों को प्रभावित करना चाहता है। वे कहां स्थित हैं? उनसे किस प्रकार के स्राव पैदा होते हैं? इन सबकी जानकारी के लिए शरीर क्रिया विज्ञान का ज्ञान होना जरूरी है।

शरीर विज्ञान के द्वारा व्यक्ति यह तो जान सकता है कि पिच्यूटरी, पिनियल, एड्रिनल या शरीर की कौन-सी ग्रन्थि कहां स्थित है और कौन-कौन से स्राव पैदा करती है? परन्तु उन स्रावों को बदलने का उपाय प्रेक्षाध्यान जीवन विज्ञान के पास है। शरीर के सम्यक् विकास एवं उपयोग के लिए शरीर विज्ञान जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही जीवन विज्ञान भी। अतः यह कहा जा सकता है कि जीवन विज्ञान एवं शरीर विज्ञान दोनों में गहरा सम्बन्ध है।

एक व्यक्ति को सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए स्वस्थ रहना बहुत जरूरी है। यदि स्वास्थ्य अनुकूल न हो तो केवल पदार्थ व्यक्ति को सच्ची शांति प्रदान नहीं कर सकता। स्वस्थ रहने के लिए शरीर के विभिन्न अवयवों एवं उनके क्रिया कलापों की जानकारी तथा उन क्रियाकलापों को कैसे नियमित रखा जाए? इसका ज्ञान बहुत जरूरी है। शरीरक्रिया विज्ञान के द्वारा व्यक्ति शारीरिक क्रियाकलापों की जानकारी प्राप्त करता है तो जीवन विज्ञान के विविध प्रयोग, आसन, प्राणायाम, ध्वनि एवं मुद्रा से उन क्रियाकलापों को स्वस्थ बनाए रख सकता है। अस्तु दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

समानताएँ

शरीर विज्ञान	जीवन विज्ञान
1. शरीर विज्ञान का मुख्य लक्ष्य है शारीरिक स्वस्थता को प्राप्त करना।	1. जीवन विज्ञान का भी एक लक्ष्य है— शारीरिक स्वास्थ्य।
2. सूक्ष्म प्रयोगों एवं जटिल यंत्रों की सहायता से शरीर के भीतर घटित होने वाली सूक्ष्म क्रियाओं की जानकारी प्राप्त करना।	2. ध्यान के विविध प्रयोगों से शरीर के भीतर घटित होने वाले विभिन्न कम्पनों एवं प्रकम्पनों की जानकारी प्राप्त करना।
3. सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों हैं।	3. जीवन विज्ञान भी सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पद्धति है।

असमानताएँ

शरीर विज्ञान	जीवन विज्ञान
1. इसका लक्ष्य शारीरिक ज्ञान व चिकित्सा है।	1. इसका मुख्य लक्ष्य चित्त की निर्मलता है।
2. शरीर विज्ञान शरीर को जानने का विशिष्ट विज्ञान है।	2. यह जीवन का विज्ञान है, शरीर को जीवन के एक पक्ष के रूप में स्वीकार करता है।
3. शरीर विज्ञान से ही स्वास्थ्य हेतु चिकित्सा विज्ञान का विकास हुआ।	3. शरीर, मन एवं भावों की स्वस्थता के लिए आसन, प्राणायाम के विविध प्रयोग पर ध्यान देता है।
4. शारीरिक और मानसिक चिकित्सा तक ही विकास हुआ है।	4. ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि तक विकास हुआ।
5. शरीर से परे आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, इहलोक, परलोक के सन्दर्भ में कोई चर्चा नहीं है।	5. शरीर के साथ-साथ इन सभी तथ्यों पर भी जीवन विज्ञान विचार विमर्श करता है। आत्मा से परमात्मा की प्राप्ति के उपाय सुझाता है।

2.5 जीवन विज्ञान और समाज-विज्ञान

2.5.1 समाज शास्त्र : अर्थ

मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों के तारतम्य को समाज कहते हैं। मनुष्य एक सामाजीक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है तथा उन्नति व विकास करता है। उसकी सभी धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि पारस्परिक क्रियायें समाज की ही देन है। तात्पर्य मनुष्य विभिन्न समुदाय जैसे परिवार, आर्थिक संगठन, राजनीतिक समुदाय व राज्य का अंग होता है। ये सभी समुदाय मनुष्य की सामाजिकता के विविध रूप हैं। जो शास्त्र मनुष्य की इस सामाजिकता पर विचार करता है, उसे समाज शास्त्र कहते हैं।

समाजशास्त्र 19वीं शताब्दी में विकसित एक नवोदित विज्ञान है। जिसका उदय चेतन मनुष्य की विभिन्न क्रियाओं के आधारभूत नियमों तथा स्थितियों को समझने हेतु हुआ। फलत: समाजशास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो समाज का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान जो सामाजिक क्रियाओं की व्याख्या करते हुए उन्हें समझाने की चेष्टा करता है। जार्ज सिमैले के अनुसार- ''समाजशास्त्र मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों के स्वरूप का विज्ञान है।''

व्यक्ति पहले एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक सम्बन्धों के बिना हम किसी भी प्रकार के सामाजिक जीवन का निर्माण नहीं कर सकते। इसी भावना से मैकाइवर ने समाज को ''सामाजिक सम्बन्धों का जाल'' (Web of social relationship) कहा है। समाजशास्त्र की विषय वस्तु में जिन समस्याओं को सम्मिलित किया गया है वे सभी समस्याएं सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न रूप हैं। मानव संस्कृति और समाज, मानव का व्यक्तित्व, समुदाय, नगरीय और ग्रामीण, जनसंख्या, समितियाँ और संगठन, परिवार तथा नातेदारी, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक संस्थाएं, सहयोग, समायोजन, सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति और युद्ध), संचार, सामाजिक व्याधिकी (अपराध और आत्महत्या) जैसे सभी विषय समाजशास्त्र के विषय सामग्री के अन्तर्गत हैं। कुल मिलाकर समाजशास्त्र समग्र रूप से सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र यह बताने का यत्न नहीं करता कि मानव समाज का स्वरूप क्या होना चाहिए? वह केवल यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्यों में सामाजिकता का उद्‌भव व विकास किस प्रकार हुआ। उसकी सामाजिकता ने कौन-कौन सा स्वरूप ग्रहण किया है और उसका विकास किस दिशा में हो रहा है।

2.5.2 समाजशास्त्र एवं जीवन विज्ञान का संबंध

समाजशास्त्र विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक अध्ययन है। जबकि जीवन-विज्ञान जीवन कैसे जीया जाए इस कला को सिखाने का विज्ञान है। जीवन-विज्ञान यह भी विचार करता है कि मनुष्य का ध्येय क्या होना चाहिए उस ध्येय की प्राप्ति के लिये उसे क्या करना चाहिए और कौन-से उपाय अपनाने चाहिए?

एक स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए सबसे आधारभूत इकाई है ''स्वस्थ व्यक्ति''। जीवन विज्ञान इसी ओर उठाया गया कदम है। आचार्य तुलसी के शब्दों में ''व्यक्ति बनेगा स्वस्थ तभी तो स्वस्थ समाज बनेगा''। जीवन विज्ञान व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक पक्षों के साथ मानसिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक पक्षों को मजबूत बनाता है तथा आने वाली विभिन्न अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ समायोजन करने योग्य बनाता है। इस अर्थ में जीवन विज्ञान को समाज शास्त्र का पूरक भी कहा जा सकता है।

समाजशास्त्र की विशेषताओं को व्याख्यायित करते हुए कहा गया –

1. यह एक स्थायी ज्ञान है समाजशास्त्र का ज्ञान तथ्यों के संकलन पर आधारित है अत: स्थायी है। इन तथ्यों द्वारा निर्मित सिद्धान्त भी स्थायी रूप से महत्त्व रखते है न कि सम-सामयिक।
2. समाजशास्त्र के सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से लागू किये जा सकते हैं।
3. समाजशास्त्र विचार एवं तथ्यों का योग है।
4. समाजशास्त्र कार्यकारण के सम्बन्ध की व्याख्या करता है।
5. सामाजिक घटना जैसी है उसका वैसा ही वर्णन करना मात्र इसका उद्देश्य है।
6. समाजशास्त्र के सिद्धान्तों का कहीं भी और कभी भी किसी भी व्यक्ति द्वारा परीक्षण किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान भी जीवन पर्यन्त चलने वाला एक स्थायी ज्ञान है। इसके अनेकान्त, अहिंसा, अणुव्रत एवं प्रेक्षाध्यान जैसे सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक नियम सार्वभौमिक हैं। वे सार्वभौमिक रूप से लागू किये जा सकते हैं। यह कार्यकारण के संबंधों की व्याख्या करते हुए उन कारणों के निवारण का उपाय भी निर्दिष्ट करता है। इस प्रकार जीवन विज्ञान और समाजशास्त्र का निकट का सम्बन्ध है।

समानताएँ

समाज शास्त्र	जीवन विज्ञान
1. समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है।	1. जीवन विज्ञान भी वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है।
2. समाजशास्त्र कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या करता है।	2. जीवन विज्ञान कर्म, नियति, पुरुषार्थ, परिस्थिति आदि को विभिन्न कार्यों के कारण के रूप में स्वीकार करता है।

3. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त परीक्षण योग्य है।	3. जीवन विज्ञान के भी सिद्धान्त एवं प्रयोग परीक्षण योग्य हैं।
4. समाजशास्त्र साधन है साध्य नहीं।	4. यही बात जीवन विज्ञान के साथ है यह साध्य प्राप्ति के लिए विभिन्न मार्ग निर्दिष्ट करता है।
5. समाजशास्त्र में भविष्यवाणी संभव है। यह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' का संकेत देने की क्षमता रखता है।	5. जीवन विज्ञान भी प्रयोग के आधार पर प्रकृति की भविष्यवाणी करता है।
6. इसके सिद्धान्त सार्वभौमिक है।	6. इसके भी सिद्धान्त एवं प्रयोग सार्वभौमिक रूप से लागू किये जा सकते हैं।

असमानताएँ

समाज शास्त्र	जीवन विज्ञान
1. समाजशास्त्र स्वयं को ''क्या है'' तक ही सीमित रखता है।	1. जीवन विज्ञान ''क्या होना चाहिए'' इस पर भी विशद् विवेचन प्रस्तुत करता है।
2. समाजशास्त्र में यथार्थता का अभाव है। हर व्यक्ति व घटना पर इसके नियम सत्य साबित हो जरूरी नहीं।	2. जीवन विज्ञान के प्रयोग सही ढंग से करने पर शत-प्रतिशत सम्यक् परिणाम की आशा की जा सकती है।
3. ये सैद्धान्तिक है।	3. प्रयोग पर आधारित है।
4. समाजशास्त्र का विषय सामाजिक समस्याओं का अध्ययन है।	4. जीवन विज्ञान जीवन विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करता है।
5. समाज या सामाजिक समस्याओं का विशेष अध्ययन करना है।	5. व्यक्तिपरक समस्याओं का अध्ययन करता है।

2.6 जीवन विज्ञान और दर्शनशास्त्र

दर्शन का प्रारम्भ दु:ख से और दु:ख से पूर्ण रूप से छुटकारा पाने की इच्छा से होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो दर्शन का प्रारम्भ अपरिमित सुख पाने की इच्छा से होता है। सुख से तात्पर्य ऐसे सुख से है जिसमें किसी प्रकार की बाधा न हो। मनुष्य जीवन जी रहा है, परन्तु ऐसा जीवन नहीं जी रहा जिसे देखकर संतोष हो। इसीलिए चाहे गौतम बुद्ध हो, चाहे भगवान महावीर, नचिकेता या ईसा मसीह या याज्ञवल्क्य सभी की एक ही जिज्ञासा जीव दु:ख मुक्त कैसे हो? दु:ख-मुक्ति के चिन्तन के साथ दर्शन का प्रारम्भ होता है। दर्शन शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है, जिसमें आत्मा, परमात्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि-आदि विषयों का विशद् विवेचन होता है।

दर्शनशास्त्र की भांति जीवन विज्ञान की उत्पत्ति भी इसी उद्देश्य से हुई है। जीव कषायों से पीड़ित है, आवेश, आवेग, संवेग से पीड़ित है। यह आवेग और संवेग उसे दु:खी बनाते हैं। जीवन विज्ञान इन दु:खों से मुक्ति के उपायों की खोज करता है एवं उसके उपाय सुझाता है। आवेश, आवेग पर नियत्रंण के प्रयोग बताता है। जीवन विज्ञान में कहा गया—''सव्व दुक्ख विमोक्खणट्ठं करेमि काउस्सग्गं'' सब दुखों से छुटकारा पाने के लिए कायोत्सर्ग करो। सम्यक् जीवन शैली, आहार विवेक, भाषा विवेक, कार्य नियोजन आदि सारे मिलकर जीव को दु:ख मुक्त कर सकते हैं।

सब शास्त्रों का संग्राहक दर्शनशास्त्र सब शास्त्रों के सार का, तत्त्वों का तथा परमात्मा का दर्शन कराता है तो जीवन विज्ञान भी चेतना की अनुभूति विभिन्न प्रयोगों द्वारा आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग दिखाता है। दोनों का एक लक्ष्य है—जीव को दु:ख से मुक्त करना।

हठयोग के ग्रंथों में लिखा है- मुद्रा का प्रयोग करो। ''मुद्रा: जरा मृत्यु विनाशनम्'' मुद्राओं के द्वारा बुढ़ापे को नष्ट किया जा

सकता है, मृत्यु नहीं आती। जीवन विज्ञान में ऐसे अनेक प्रयोग हैं जो व्यक्ति को मृत्यु और बुढ़ापे से दूर रखने का प्रयास करते हैं। तात्पर्य यह है कि दर्शन का जन्म तब होता है जब व्यक्ति के भीतर जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने की लालसा पैदा होती है। जब वह दुखों से सर्वथा मुक्त होना चाहता है और जीवन विज्ञान का जन्म तब होता है जब व्यक्ति इनसे छुटकारा पाने के लिए या अपनी लालसा को मिटाने के लिए कदम उठाता है। उन साधनों को अपनाता है जिससे वह मुक्त हो सके।

समानताएँ

दर्शनशास्त्र	जीवन विज्ञान
1. परमात्मा की खोज	1. परमात्म-दर्शन के उपाय
2. दुःख मुक्ति के उपायों की खोज	2. दुःख मुक्ति के उपायों का अध्ययन एवं अनुशीलन।
3. दुःख के कारणों की खोज	3. दुःख के कारणों का विशद विवेचन
4. अनुभव पर आधारित	4. अनुभव पर आधारित

असमानताएँ

दर्शनशास्त्र	जीवन विज्ञान
1. केवल सैद्धान्तिक	1. प्रायोगिक भी।
2. तर्क पर आधारित	2. अनूभूति परक
3. क्षेत्र, प्रकृति और कुछ हद तक दोनों में दृष्टिकोण का अंतर है।	

बोध प्रश्न-1

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

(i) भौतिक विज्ञान से आप क्या समझते हैं? जीवन विज्ञान के साथ इसका सम्बन्ध स्पष्ट करें।

(ii) ''शरीर विज्ञान और जीवन विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं'' सिद्ध करें।

(iii) समाज विज्ञान क्या है? जीवन विज्ञान के साथ इसकी समानताएँ एवं असमानताएँ स्पष्ट करें।

(iv) दर्शनशास्त्र एवं जीवन-विज्ञान दोनों का लक्ष्य एक ही है, कैसे? स्पष्ट करें।

2.7 जीवन विज्ञान और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र : अर्थ

सद्गुण-दुर्गुण, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आदि गुणों पर जब-जब हम विचार-विमर्श करते हैं तब-तब हम नीति का निर्णय करते हैं। नीति का निर्णय ही नीति शास्त्र को जन्म देता है। वह निर्णय जो वर्तमान में है, विलक्षण है उनके विषय में सम्पूर्ण सत्य ही नीतिशास्त्र की वास्तविक परिभाषा है। सरल शब्दों में कहें तो नीतिशास्त्र का अर्थ है — नीति का निर्धारण करने वाला शास्त्र। दूसरे शब्दों में नीति या अनीति, उचित या अनुचित पर जो विज्ञान विचार करता है उसे नीतिशास्त्र कहते हैं। उचित-अनुचित का विचार समाज में रहते हुए मनुष्य के लिए विशेष महत्त्व रखता है। राबिन्सन क्रूसो जैसे एकांकी मनुष्य के लिए बहुत कम ऐसी बातें थी जिन्हें हम सामाजिक अर्थों में उचित या अनुचित समझ सकते। नैतिक या सदाचार संबंधी विचार मुख्यतया सामाजिक जीवन के साथ ही संबंध रखते हैं। समाज का प्रयोजन सामाजिक उन्नति है। सामाजिक उन्नति उसके सदस्यों पर निर्भर है। उसके सदस्यों की उत्कृष्टता, उत्तमता पर निर्भर है। प्रश्न यह है कि जीवन की उत्तमता क्या है? किन बातों को हम निकृष्ट समझते हैं इस विषय का प्रतिपादन नीतिशास्त्र करता है।

जीवन विज्ञान के साथ सम्बन्ध

जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा है। मूल्य का अर्थ है— वह सद्गुण जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को ऊंचा उठाते हैं। सद्गुण, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक, उचित-अनुचित का ज्ञान एवं शुभ-अशुभ का विवेक मूल्य के अन्तर्गत आते हैं। जीवन विज्ञान इन्हीं मूल्यों का अध्ययन है। यह इन मूल्यों को व्यवहार में कैसे उतारा जाए? इसके उपाय सुझाता है। नीतिशास्त्र आचरण संबंधी प्रश्नों से सम्बन्धित है। जीवन विज्ञान आचरण सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान है। जीवन विज्ञान नीतियों का ह्रास कब, क्यों होता है? इसका सामाजिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन कर उन पर नियत्रंण के प्रयोग भी सिखाता है। नीतिशास्त्र, दार्शनिकों एवं धर्म गुरुओं ने जो नीति की बातें कहीं उसका ही संकलन है, वहीं जीवन विज्ञान विभिन्न विषयों का संकलन है। दोनों का उद्देश्य है- दु:खमुक्त समाज की संरचना, नैतिक एवं मर्यादित जीवन शैली का निर्माण।

समानताएँ

नीतिशास्त्र	जीवन विज्ञान
1. मूल्यों का अध्ययन	1. मूल्यपरक शिक्षा
2. परमात्मा की खोज में संलग्न है।	2. परमात्म-दर्शन के साधन उपलब्ध करवाता है।
3. शुभ-अशुभ, सद्गुण-दुर्गुण की चर्चा करता है।	3. शुभ-अशुभ संवेगों पर विचार विमर्श करता है।

असमानताएँ

नीतिशास्त्र	जीवन विज्ञान
1. सैद्धान्तिक शिक्षा पद्धति है।	1. सैद्धान्तिक व प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है।
2. इसमें क्या है? इस प्रश्न पर विचार-विमर्श होता है।	2. इसमें क्या है के साथ कैसे बदला जाए? इसके व्यावहारिक प्रयोग करवाए जाते हैं।
3. दर्शन पर आधारित है।	3. विज्ञान पर आधारित है।
4. आदर्शों की खोज	4. आदर्शों को जीवन ग्राही बनाने के उपाय

अंत में यही कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र परम शुभ का विज्ञान है। वह मानव व्यवहार के आदर्शों की खोज करता है। वह परम शुभ के प्रकाश में हमारे संकल्पों के शुभाशुभ का निर्णय करता है। वहीं जीवन विज्ञान मानव व्यवहार में उन आदर्शों का अपनाए जाने के लिए तथा अशुभ संकल्पों से छुटकारा पाने के उपाय निर्दिष्ट करता है।

2.8 जीवन विज्ञान और शिक्षा शास्त्र

शिक्षा शास्त्र

''शिक्षा'' संस्कृत शब्द है जो शिक्षा- 'विद्योपादाने' धातु से बना हुआ है जिसका अर्थ है विद्या ग्रहण करना। शिक्षा को विभिन्न रूपों में व्याख्यायित किया गया फिर भी शिक्षा का वास्तविक अर्थ है—''एक ऐसी प्रक्रिया, जो मनुष्य की जन्मजात शक्तियों के स्वाभाविक और सामन्जस्यपूर्ण विकास में योग देती है। उसकी वैयक्तिकता का पूर्ण विकास करती है, उसे अपने वातावरण से सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायता देती है, उसे जीवन और नागरिकता के कर्त्तव्यों और दायित्वों के लिए तैयार करती है और उसके व्यवहार, विचार और दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन करती है-जो समाज, देश और विश्व के लिए हानिकारक न हो।''

शिक्षा के इसी गूढ़ अर्थ को पूर्णता देने हेतु शिक्षा-शास्त्रों का निर्माण हुआ। शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार प्राचीन काल में शिक्षा का मूल उद्देश्य था- मोक्ष प्राप्त करना। प्राचीन काल में धर्म पर बहुत जोर दिया जाता था ताकि मनुष्य आवागमन के चक्कर से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त कर सके। इसलिए हिन्दुओं ने चरित्र-निर्माण को ही शिक्षा का उद्देश्य माना। आधुनिक युग में सफल नागरिक

का निर्माण जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ सामाजिक उन्नति को भी ध्यान में रखे, शिक्षा का उद्देश्य माना जाता है। शिक्षा के मुख्य विषय हैं — 1. बालक के विकास पर समाज का प्रभाव, 2. बालक का समाजीकरण, 3. विद्यालय व समुदाय का सम्बन्ध, विद्यालय का समुदाय पर, समुदाय का विद्यालय पर प्रभाव आदि-आदि।

शिक्षा शास्त्र का जीवन विज्ञान से सम्बन्ध

जीवन विज्ञान भी एक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति ही है। जिसका मुख्य उद्देश्य शिक्षा-शास्त्र से भिन्न नहीं है। शिक्षा शास्त्रियों ने कहा — ''हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है, जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। जीवन-विज्ञान के भी तीन आयाम हैं—1. जीवनोन्मुखी 2. जीविकोन्मुखी 3. समाजोन्मुखी। ये आयाम विद्यार्थी को तीन प्रकार से समर्थ बना सकते हैं। 1. व्यक्ति के रूप में 2. सामाजिक प्राणी के रूप में 3. सम्मान पूर्ण आजीविका उपार्जित करने में।''

प्लेटो ने कहा – ''शिक्षा से मेरा अभिप्राय उस प्रशिक्षण से है जो अच्छी आदतों द्वारा बच्चों में अच्छी नैतिकता का विकास करती है।''

जीवन विज्ञान भी नैतिकता आदि मूल्यों से युक्त एक मूल्यपरक शिक्षा है। इसलिए जीवन विज्ञान और शिक्षा शास्त्र एक दूसरे के सहयोगी हैं। कुछ विचारकों का मत है कि शिक्षा प्रशिक्षण का कार्य है जिसके द्वारा व्यक्ति (शिक्षाविदों) को सामाजिक जीवन में अपना उचित स्थान ग्रहण करने के योग्य बनाया जाता है। मनुष्य मूलतः पशु होता है उसे प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है जिससे कि वह अपनी भावनाओं, अभिलाषाओं और व्यवहारों पर अधिकार करना सीख जाये। ऐसा प्रशिक्षण प्राप्त करके ही वह समाज का उत्तरदायी सदस्य बन सकता है। उसे यह प्रशिक्षण, शिक्षा द्वारा ही दिया जा सकता है। जीवन-विज्ञान भी एक ऐसी ही नवीन प्रशिक्षण पद्धति है जिसके द्वारा शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के साथ भावनात्मक शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है एवं विभिन्न प्रयोग करवाए जाते हैं।

समानताएँ

शिक्षाशास्त्र	जीवन विज्ञान
1. शिक्षा का उद्देश्य बालक का चहुमुखी विकास	1. जीवन विज्ञान का भी यही उद्देश्य है कि बालक का सर्वांगीण विकास हो।
2. आजीविका प्राप्त करने हेतु प्रशिक्षण	2. जीवन विज्ञान भी जीवनोन्मुखी के साथ जीविकोन्मुखी है।

असमानताएँ

शिक्षाशास्त्र	जीवन विज्ञान
1. सैद्धान्तिक पद्धति	1. प्रायोगिक पद्धति
2. वर्तमान और भविष्य का चिन्तन	2. वर्तमान और भविष्य के चिन्तन के साथ इहलोक परलोक और पुर्नजन्म पर भी चिन्तन।
3. इसका मुख्य उद्देश्य हर व्यक्ति के ज्ञान, रुचियों, आदर्शों, आदतों और शक्तियों का विकास करना।	3. जीवन विज्ञान का उद्देश्य चित्त की निर्मलता।

2.9 जीवन विज्ञान और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान के इतिहास में भिन्न-भिन्न काल में इसका अर्थ अलग-अलग तरह से किया गया है। मनोविज्ञान को प्रारम्भ में क्रमशः आत्मा का विज्ञान, मन का विज्ञान और चेतना का विज्ञान कहा गया। बाद में यह परिभाषाएं छोड़ दी गई और इसे व्यवहार का विज्ञान कहा जाने लगा। जो भी हो मनोविज्ञान व्यक्ति की क्रियाओं का विज्ञान है। यह जीवन की मानसिक क्रियाओं का विज्ञान है। मनोविज्ञान का मूल क्षेत्र 'व्यवहार का अध्ययन' है फिर भी व्यापक रूप से देखें तो इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। 1. समाज मनोविज्ञान–

सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करता है 2. विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान – मानव मन की जटिल प्रक्रियाओं का विश्लेषण करता है 3. उत्पत्तिमूलक मनोविज्ञान – व्यक्ति तथा प्रजाति की उत्पत्ति का विवेचन करता है 4. पशुमनोविज्ञान – पशुओं के व्यवहार का अध्ययन करता है 5. किशोर मनोविज्ञान – किशोरों के व्यवहार का अध्ययन करता है 6. बालमनोविज्ञान – बालक के व्यवहार का अध्ययन करता है 7. व्यक्तित्व मनोविज्ञान – व्यक्ति के प्रकारों का मानव वैभिन्य का अध्ययन करता है 8. मनोविश्लेषण मनोविज्ञान – मनुष्यों की विभिन्नताओं का अध्ययन करता है 9. प्रेरणात्मक मनोविज्ञान – प्रेरणा का अध्ययन करता है 10. लोक मनोविज्ञान – लोक व्यवहार का अध्ययन करता है, 11. विकास मनोविज्ञान – विकास क्रम का अध्ययन करता है।

जीवन विज्ञान से भी उपरोक्त क्षेत्र अछूते नहीं हैं। समाज, मानव मन की जटिल प्रक्रियाएं, किशोर, बालक के व्यवहार सभी जीवन विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। अनेकान्त सिद्धान्त जीवन विज्ञान का प्रमुख सिद्धान्त है। जिसका कथन है— "If you desire for happiness then also be ready for sorrow. If you desire for gain then be ready for loss" और यह सिद्धान्त मानव मन की सम्पूर्ण समस्याओं का सटीक समाधान है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव जीवन का प्रत्येक पहलू और प्रत्येक प्रकार के मानव सम्बन्ध आते हैं। मनोविज्ञान ने मानव जीवन के सभी पक्ष और सभी प्रकार के सम्बन्धों में विकास और समन्वय के तथा बाधाओं को दूर करने और समस्याओं को सुलझाने के उपाय बतलाये हैं। 1. शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान ने विद्यार्थी, शिक्षक, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि, सीखने की प्रक्रिया आदि पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाले हैं। 2. अपराध और न्याय के क्षेत्र में अपराधियों को सुधारने तथा न्याय को मानवीय बनाने में सहायता दी है। 3. चिकित्सा के क्षेत्र में उसने पागलों तथा विक्षिप्तों पर अत्याचारों को रोककर उसके निदान के उपाय बतलाये हैं और मानसिक रोगों को दूर करने की पद्धतियां विकसित की है। 4. मनोविज्ञान ने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने में सहायता दी है। 5. मनोविज्ञान ने दूसरों को समझने में सहायता दी है। व्यवहार कुशलता प्राप्त करने में सहायता दी है।

मनोविज्ञान के निर्दिष्ट विविध क्षेत्र, जीवन विज्ञान के अध्ययन के विषय हैं। जीवन विज्ञान मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का, मानव मन की जटिल प्रक्रियाओं का एवं बालकों के व्यवहार का अध्ययन करने के साथ, उन्हें सम्यक् दिशा प्रदान करने के उपाय निर्दिष्ट करता है। जीवन विज्ञान के अन्तर्गत निर्दिष्ट विभिन्न प्रयोगों को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार का ज्ञान आवश्यक है। मनुष्य जिन क्रियाओं को करता है उसके पीछे क्या कारण है? इसे जानने के पश्चात् ही उपचार किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान जीवन जीने की एक विशिष्ट कला है परन्तु यह कला तभी सफल हो सकती है जब मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों, इच्छाओं, प्रेरणाओं, बुद्धि, स्मृति आदि संज्ञानों का ज्ञान हमें हो जाए। इन सभी का आधार मनोविज्ञान है। इसलिए मनोविज्ञान को जीवन विज्ञान का पूरक और जीवन विज्ञान के पास इनका उपचार है इसलिए जीवन विज्ञान को मनोविज्ञान का पूरक कहा जा सकता है।

समानताएँ

मनोविज्ञान	जीवन विज्ञान
1. मनोविज्ञान वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है।	1. जीवन विज्ञान भी वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है।
2. मनोविज्ञान के सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं।	2. इसके भी नियम सार्वभौमिक हैं।
3. मनोविज्ञान के सिद्धान्त प्रामाणिक हैं।	3. जीवन विज्ञान के भी सिद्धान्त सत्य पर आधारित है। यह आत्म द्रष्टाओं की वाणी है।
4. मनोविज्ञान कार्यकारण संबंधों की खोज करता है।	4. जीवन विज्ञान भी कार्यकारण सिद्धान्त पर ध्यान देते हुए उपचार निर्दिष्ट करता है।

जीवन विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों ही विश्व शांति के अनुकूल वातावरण निर्माण करने और विभिन्न जाति, धर्म, वर्ग और राष्ट्र के लोगों में सहिष्णुता उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। जीवन विज्ञान और मनोविज्ञान का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी कुछ क्षेत्र, प्रकृति और दृष्टिकोण के आधार पर इनमें असमानताएं भी है। इस अर्थ में ये दोनों अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं।

असमानताएँ

मनोविज्ञान	जीवन विज्ञान
1. मन का विशेष अध्ययन करता है।	1. मन के साथ-साथ भावों की भी प्रधानता है।
2. आत्म तत्त्व की कोई चर्चा नहीं है।	2. आत्म तत्त्व के अध्ययन की प्रधानता है।
3. विविध रोगों का या मानव व्यवहार का कारण अवचेतन, अचेतन मन में दबी भावनाएं/वासनाएं को मानना है।	3. कर्म और कर्मों के उदय पर भी आस्था।
4. योग के विषय में कोई चर्चा नहीं।	4. योग के विभिन्न अंगों का साधना में उपयोग है।
5. केवल इहलोक का चिन्तन करता है।	5. परलोक के लिए भी मार्गदर्शन देता है।

जीवन विज्ञान और मनोविज्ञान में कुछ असमानता, विषय-भेद होते हुए भी इन दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बंध है कि मनोविज्ञान के बहुत से विषयों का जीवन-विज्ञान में विस्तार से अध्ययन करवाया जाता है।

2.10 जीवन विज्ञान और पर्यावरण

व्यक्ति के व्यवहारों और समाज का अध्ययन करते समय एक प्रमुख समस्या हमारे सामने आती है कि बाह्य रूप से सभी मनुष्यों की जीव रचना एक समान है फिर भी उनके बीच इतनी भिन्नताएं क्यों? समाज के कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतया समान नहीं। सभी के आदर्शों, व्यवहारों, संस्कृति, खान-पान, वेशभूषा, सामाजिक विश्वासों अथवा मनोवृत्तियों में बहुत बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। यहां तक कि एक ही माता-पिता की दो सन्तानों में भी भिन्नता पायी जाती है। पर्यावरण विज्ञान इन सबके पीछे पर्यावरण को ही एक महत्त्वपूर्ण कारण के रूप में स्वीकार करता है। पर्यावरण वैज्ञानिक कहते हैं— Man is product of his environment. मनुष्य अपने पर्यावरण की उपज है। प्रत्येक मनुष्य अपने चारों ओर की अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, आर्थिक, जैविकीय और जनसंख्यात्मक परिस्थितियों का अध्ययन करता है। 1. जल प्रदूषण, 2. ध्वनि प्रदूषण और नियंत्रण, 3. मृदा और उसका संरक्षण, 4. रेडियोधर्मी प्रदूषण एवं उपचार, 5. ईंधन दहन और पर्यावरण, 6. ऊर्जा संरक्षण, 8. मानसिक प्रदूषण आदि पर्यावरण विज्ञान की विषय सामग्री है।

इन प्रदूषणों से बचने का महत्त्वपूर्ण उपाय है— अहिंसक चेतना का जागरण। जब तक अहिंसा की चेतना नहीं जागेगी मनुष्य सब कुछ जानते हुए भी इस भयानक प्रदूषण की बीमारी से बच नहीं पायेगा। जीवन विज्ञान शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है ''अहिंसक चेतना का जागरण।'' इसीलिए कहा जा सकता है कि पर्यावरण विज्ञान और जीवन विज्ञान का बहुत निकट का सम्बंध है। पर्यावरण विज्ञान का लक्ष्य तभी पूरा हो सकता है जब उसके साथ अहिंसा प्रशिक्षण को भी जोड़ा जाए।

पर्यावरण के दो प्रकार कहे गए हैं- 1. अनुकूल पर्यावरण, 2. प्रतिकूल पर्यावरण। जब पर्यावरण मनुष्य या प्राणी के विकास में सहायक होता है तब उसे 'अनुकूल पर्यावरण' कहा जाता है। लेकिन जब वही पर्यावरण उसके विकास में बाधक बनता है तब उसे 'प्रतिकूल पर्यावरण' कहा जाता है। अनुकूल पर्यावरण में व्यक्ति अपनी विभिन्न प्राकृतिक और सांस्कृतिक दशाओं से सरलतापूर्वक अनुकूलन करके उपयोगी कार्य करने की क्षमता प्राप्त करता है। जबकि प्रतिकूल पर्यावरण में जीवन-संघर्ष की एक नवीन समस्या उत्पन्न हो जाती है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति ऐसे उपाय ढूढ़ने का प्रयत्न करता है जिससे वह जीवन के इस संघर्ष में विजयी हो सके। ऐसे समय में जीवन विज्ञान उसे संघर्ष के साथ सामना करने या अनुकूलन अर्थात् समायोजन करने के उपाय निर्दिष्ट करता है। जीवन-विज्ञान को अपनाये बिना पर्यावरण को सुरक्षित रख पाना सम्भव नहीं। जीवन विज्ञान के अन्तर्गत निर्दिष्ट नियम- जैसे :- मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा, मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा, मैं व्यसन मुक्त जीवन जीऊंगा, मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा, हरे भरे वृक्ष नहीं काटूंगा, पानी का अपव्यय नहीं करूंगा, 5. किसी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्ण वध नहीं करूंगा आदि पर्यावरण की सुरक्षा के उत्कृष्ट उपाय हैं।

समानताएँ

पर्यावरण विज्ञान	जीवन विज्ञान
इसका मुख्य लक्ष्य है — 1. मानव को पर्यावरण की सुरक्षा के लिए जागरूक करना।	1. जीवन विज्ञान भी अन्य आयामों के साथ पर्यावरण की सुरक्षा के लिए सचेत करता है।
2. पर्यावरण की सुरक्षा के साथ व्यक्ति स्वस्थ जीवन कैसे जीएँ इस पर चिन्तन करना।	2. प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रहे जीवन विज्ञान की भी यह चाह है।

असमानताएँ

पर्यावरण विज्ञान	जीवन विज्ञान
1. मुख्य लक्ष्य पर्यावरण सुरक्षा है।	1. मुख्य लक्ष्य चित्त की निर्मलता और चारित्रिक विकास है।
2. व्यक्तिगत विकास से कोई सम्बन्ध नहीं।	2. शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और भावनात्मक विकास पर केन्द्रित है।
3. सैद्धान्तिक पद्धति है।	3. व्यवहार परिवर्तन के विभिन्न प्रयोग भी है।
4. मूल्यों का कोई प्रशिक्षण नहीं।	4. मूल्यपरक शिक्षा है।
5. पर्यावरण विज्ञान पर्यावरण का विशिष्ट ज्ञान है।	5. जीवन विज्ञान जीवन जीने का विशिष्ट विज्ञान है।

बोध प्रश्न–2

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिए —

(1) जीवन विज्ञान एवं नीतिशास्त्र के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।

(2) जीवन विज्ञान के अन्तर्गत मनोविज्ञान का अध्ययन जरूरी है, किसलिए? स्पष्ट करें।

(3) पर्यावरण विज्ञान के साथ जीवन विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है, सिद्ध करें।

(4) जीवन विज्ञान और पर्यावरण विज्ञान की समानता एवं असमानता को स्पष्ट करें।

इकाई -2 (ख) जीवन विज्ञान की उपयोगिता

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 व्यक्तित्व विकास में जीवन विज्ञान
 2.2.1 व्यक्तित्व : अर्थ
 2.2.2 व्यक्तित्व के प्रकार
  2.2.2.1 संतुलित व्यक्तित्व
  2.2.2.2 असंतुलित व्यक्तित्व
 2.2.3 व्यक्तित्व विकास में जीवन विज्ञान की उपयोगिता
2.3 शिक्षा में जीवन विज्ञान
 2.3.1 शिक्षा : अर्थ
 2.3.2 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा
 2.3.3 जीवन विज्ञान की उपयोगिता
2.4 प्रशासन में जीवन विज्ञान
 2.4.1 प्रशासन : अर्थ
 2.4.2 प्रशासन में जीवन विज्ञान की उपयोगिता
2.5 चिकित्सा में जीवन विज्ञान
 2.5.1 चिकित्सा विज्ञान
 2.5.2 बीमारी का कारण
 2.5.3 चिकित्सा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता
2.6 समाज में जीवन विज्ञान
 2.6.1 समाज : अर्थ
 2.6.2 समाज में जीवन विज्ञान की उपयोगिता
2.7 उद्योग में जीवन विज्ञान
 2.7.1 उद्योग : अर्थ
 2.7.2 उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य जीवन के विविध क्षेत्र — व्यक्तित्व, शिक्षा, प्रशासन, चिकित्सा, समाज एवं उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता से अवगत करवाना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद —

- संतुलित एवं असंतुलित व्यक्तित्व में भेद कर पाएंगे।
- संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में जीवन विज्ञान किस प्रकार उपयोगी है समझ सकेंगे।
- शिक्षा के क्षेत्र में स्वस्थ वातावरण का निर्माण कैसे हो, जान पाएँगे।
- अच्छे प्रशासन के लिए जीवन विज्ञान की महत्ता को जान सकेंगे।
- बीमारियों का उपचार जीवन विज्ञान के द्वारा कर पाएँगे।
- सामाजिक समस्याओं का समाधान सरल ढंग से कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

संसार में अनेक पदार्थ हैं। उनमें से कुछ उपयोगी होते हैं कुछ अनुपयोगी। जो वस्तुएं अनुपयोगी होती हैं, उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। वे धीरे-धीरे काल के गर्त में चली जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं। जो पदार्थ उपयोगी होते हैं उनका विकास होता रहता है, मांग बढ़ती जाती है। शिक्षा जगत् में "जीवन विज्ञान" एक उपयोगी विद्या शाखा है। यद्यपि इसका अध्ययन-अध्यापन बहुत पुराना नहीं है किन्तु जब से जीवन विज्ञान का उद्भव हुआ है तभी से इसकी मांग बढ़ती जा रही है। शिक्षा जगत् के अतिरिक्त भी अनेक व्यक्तियों ने जीवन विज्ञान की प्रयोगात्मक प्रक्रिया प्रेक्षाध्यान को जीवन के विभन्न क्षेत्रों में अजमाया है। उन्हें अप्रत्याशित सफलता मिली है। इसके वस्तुनिष्ठ परीक्षण किए हैं। व्यक्तिनिष्ठ अनुभव और अभिमत भी एकत्रित किए गए हैं। इन सबने मिलकर इसकी असीम उपयोगिता एवं संभावनाओं को उजागर किया है। सबसे पहले इसकी उपयोगिता शिक्षा क्षेत्र में उभर कर आई। अब यह प्रशासन, चिकित्सा, उद्योग, समाज आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हो रही है।

2.2 व्यक्तित्व विकास में जीवन विज्ञान

2.2.1 व्यक्तित्व : अर्थ

व्यक्तित्व का अंग्रेजी अनुवाद 'Personality' है, जो लेटिन शब्द 'Persona' से बना है। 'परसोना' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'नकाब' या 'मुखौटा' होता है, जिसे नायक और नायिका नाटक करते समय अपने चेहरे पर लगाते हैं। इस शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए व्यक्तित्व को बाहरी वेशभूषा तथा दिखावे के आधार पर परिभाषित किया गया। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व से तात्पर्य वह जो दूसरों को दिखाई देता है, उससे है। जिस व्यक्ति का बाहरी दिखावा भड़कीला एवं आकर्षक होता था, उसे अच्छा व्यक्तित्व समझा जाता था। लेकिन इस शाब्दिक अर्थ की लोकप्रियता तुरन्त समाप्त हो गई और बाद में व्यक्तित्व को विभिन्न सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों से मनोवैज्ञानिकों द्वारा परिभाषित किया गया।

- वुडवर्थ एवं मारक्विस के अनुसार "व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यवहार ही व्यक्तित्व कहलाता है।"
- डेशियल के अनुसार "व्यक्तित्व व्यक्ति के संगहित व्यवहार, विशेषत: जैसा उसके साथियों द्वारा संगत रूप से बतलाया जाता है, का एक सम्पूर्ण तस्वीर होता है।"
- गिलफोर्ड के अनुसार "व्यक्तित्व शीलगुणों का एक समन्वित पैटर्न है।"
- समग्र रूप से कहा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष गुण या विशेषताएं होती हैं। इन्हीं गुणों एवं विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होता है। व्यक्ति के इन गुणों का संगठन ही व्यक्तित्व कहलाता है।

Oxford अंग्रेजी शब्दकोश में 'Personality' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया— "The various aspect of a person's character that combine to make different from other people."

जैसा कि हमने जाना जनसाधारण में व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के बाह्य रूप से लिया जाता था परन्तु व्यक्तित्व का सम्बन्ध बाह्य एवं आन्तरिक दोनों गुणों से है। वस्तुत: व्यक्तित्व विशेष लक्षणों का योग न होकर व्यक्ति के व्यवहार का समग्र रूप है। वह व्यक्ति के आचार-विचार, व्यवहार; क्रियाएं और गतिविधियों में झलकता है।

2.2.2 व्यक्तित्व के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को दो भागों में विभाजित किया-

सामान्य व्यक्तित्व और असामान्य व्यक्तित्व। सामान्य अर्थात् स्वस्थ व्यक्तित्व असामान्य अर्थात् अस्वस्थ व्यक्तित्व। स्वस्थ व्यक्तित्व ही विकसित व्यक्तित्व है। मनोचिकित्सकों के अनुसार एक स्वस्थ व्यक्ति में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं —

2.2.2.1 संतुलित व्यक्तित्व

1. पर्याप्त सुरक्षा की भावना – एक 'स्वस्थ' व्यक्ति में यह दृढ भावना रहती है कि उसका वर्तमान जीवन तथा भावी जीवन सुरक्षित और सुनिश्चित है।

2. पर्याप्त आत्म-मूल्यांकन – एक स्वस्थ व्यक्ति अपने आत्म-सम्मान व स्वाभिमान के सन्दर्भ में अपने आवेगों, आवश्यकताओं व आकांक्षाओं को नियमित व संतुलित करता है। उसकी इच्छाएँ सामाजिक मर्यादा की परिधि के अन्तर्गत ही रहती हैं।

3. पर्याप्त स्फूर्ति व संवेगात्मक अभिव्यक्ति – एक संतुलित व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिक आधार पर संतोषप्रद, सुखद व सामाजिक संबंधों को बनाये रखने की योग्यता रहती है।

4. जीवन की वास्तविकता के प्रति सजग – स्वस्थ व्यक्ति जीवन संघर्ष में आने वाली कठिनाइयों, विपत्तियों, विफलताओं व कष्टों का साहसपूर्ण व धैर्यपूर्ण ढंग से सामना करते हुए देखा जाता है। वह इन सब स्थितियों से घबराता नहीं, अपितु इन्हें जीवन का एक अभिन्न अंग ही मानता है।

5. सीमित शारीरिक इच्छायें – शारीरिक इच्छायें कभी सामाजिक मर्यादा की परिधि का उल्लघंन नहीं करती।

6. पर्याप्त आत्म-ज्ञान – एक स्वस्थ व्यक्ति अपनी इच्छाओं व लक्ष्यों को अपनी शारीरिक व मानसिक क्षमताओं तथा योग्यताओं के आधार पर सीमाबद्ध करने का निरन्तर प्रयास करता रहता है।

7. अतीत के अनुभव से लाभ – 'स्वस्थ' व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों से लाभ उठाता है तथा उनके आधार पर अपने भावी जीवन को सुनियोजित करता है।

8. बाह्यगामी उन्मुखता – एक संतुलित व्यक्ति अत्यधिक आत्म केन्द्रित न होकर अपने समूह व अन्य समूहों के लोगों की ओर भी स्वत: ही उन्मुख रहता है। वह समूह व समाज की अपेक्षाओं को किसी बाह्य दबाव के कारण नहीं, बल्कि स्वत: ही श्रद्धाभाव से उनका परिपालन करता है।

9. समूह-संस्कृति से सापेक्षित मुक्तता – एक सामान्य व्यक्ति अपने समूह की सांस्कृतिक परम्पराओं व धारणाओं के प्रति पूर्णरूपेण अपने व्यक्तित्व का आत्म-समर्पण नहीं कर देता बल्कि अपने वैयक्तिक व मौलिक विचारों को भी यथाशक्ति अभिव्यक्त करता है तथा इस उपक्रम में सामने आनेवाले मतभेदों को सहर्ष स्वीकार भी कर लेता है।

जिस प्रकार सामान्य व्यक्तित्व को स्वस्थ, संतुलित एवं समायोजित व्यक्तित्व कहा जाता है, ठीक वैसे ही एक असामान्य व्यक्तित्व को अस्वस्थ एवं असन्तुलित व्यक्तित्व कहा जाता है। एक असंतुलित अर्थात् अविकसित व्यक्तित्व में मनोवैज्ञानिकों के अनुसार निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं—

2.2.2.2 असंतुलित व्यक्तित्व

1. अनुरूपता का अभाव – असंतुलित व्यक्ति प्रचलित सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, मर्यादाओं, मूल्यों और आदर्शों को सही न मानकर अधिकांशत: अपनी स्वयं की व्यक्तिगत आचार-संहिता को ही ठीक समझता है।

2. असुरक्षा की भावना – जीवन की सामान्य स्थितियों, कठिनाइयों एवं दायित्व के परिपालन के लिए आवश्यक आत्म विश्वास नहीं होता। उसके अचेतन मन में असुरक्षा की भावना निरन्तर बनी रहती है।

3. दुश्चिन्ता – प्राय: दुखद घटनाओं, घोर निराशाओं एवं कुण्ठाओं से घिरा हुआ रहता है। निराशावादिता, साहसहीनता व दुश्चिन्ता उसके अचेतन में एक प्रकार से घर कर लेती है।

4. व्यक्तिगत अपरिपक्वता— उसका व्यवहार साधारणत: उसकी शिक्षा, आयु व सामाजिक स्थिति के अनुकूल न होकर कुछ निम्न स्तर का रहता है। उसकी संवेगात्मक अनुभूति व अभिव्यक्ति उद्दीपक स्थिति की उपयुक्त सीमाओं में रहकर प्राय: असन्तुलित ही रहती हैं। उसकी क्रियाएं क्षणिक आवेगों से प्रभावित रहती हैं।

5. बौद्धिक असमर्थता – बौद्धिक न्यूनता के कारण प्राय: हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित रहता है।

6. वास्तविकता से पलायन – वह जीवन के सामान्य संघर्षों, दैनिक कठिनाइयों, दुखद विफलताओं व आवश्यक दायित्वों से मुक्त रहने का प्रयास करता है।

7. आत्म-तिरस्कार – ऐसे व्यक्ति प्राय: अपने आपको निजी मापदण्ड से अपूर्ण व अपर्याप्त समझते हैं। कभी-कभी अपने आपको घृणित व पतित भी समझते हैं।

8. मानसिक शक्ति का ह्रास – इनकी शारीरिक व मानसिक शक्ति अनेक साधारण कार्य, तुच्छ इच्छाओं, अनावश्यक उलझनों तथा निरर्थक संघर्षों में ही नष्ट होती है।

इस प्रकार असंतुलित व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रायः अस्त-व्यस्त ही रहता है।

फिर भी इस सन्दर्भ में हमारे सामने एक विचारणीय तथ्य यह है कि जिस प्रकार सन्तुलित व्यक्तित्व के विकास में जीवन की अपेक्षाकृत सुखद और अनुकूल परिस्थितियों का विशेष योगदान रहता है, ठीक उसी प्रकार असंतुलित व्यक्तित्व भी अधिक दुखद व प्रतिकूल परिस्थितियों की ही देन है। इनके अलावा ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में स्वयं के भावों का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। अतः हमें यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि एक असन्तुलित या अविकसित व्यक्तित्व को बदला जा सकता है। अनुकूल वातावरण देकर व्यक्तित्व जिस स्तर पर है उससे ऊंचा उठाया जा सकता है।

2.2.3 व्यक्तित्व विकास में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

जैसा कि हमने जाना कि व्यक्तित्व दो प्रकार के होते हैं — संतुलित एवं असंतुलित। दूसरे शब्दों में कहे तो स्वस्थ (विकसित) एवं अस्वस्थ (अविकसित)। स्वस्थ व्यक्ति अस्वस्थ हो सकता है तो अस्वस्थ व्यक्ति भी स्वस्थ हो सकता है। कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि वह असंतुलित कहलाए। सभी अपने व्यक्तित्व का विकास चाहते हैं। स्वस्थ व्यक्तित्व निर्माण के लिए जीवन विज्ञान निम्नलिखित बातों पर ध्यान देता है–

1. शक्ति की पहचान	2. सम्यक् दृष्टि का विकास	3. अन्तर्दृष्टि का विकास
4. तनाव-मुक्ति	5. सर्वांगीण विकास	6. वृत्तियों से छुटकारा
7. सकारात्मक सोच	8. कार्यक्षमता का विकास	9. नशामुक्त जीवन

1. शक्ति की पहचान– जीवन विज्ञान के प्रयोगों से सबसे पहले व्यक्ति यह जानने में समर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त शक्ति है, वह एक सामान्य व्यक्ति से विद्वान बन सकता है। वस्तुतः व्यक्ति कैसा बनेगा? यह सब निर्भर है– शक्ति के जागरण पर जो व्यक्ति अपनी शक्तियों को जागृत कर लेता है, वह बहुत कुछ उपलब्ध कर सकता है और जो अपनी शक्तियों को नहीं पहचान पाता, उसके पास सब कुछ होते हुए भी वह कुछ नहीं कर पाता, जीवन व्यर्थ चला जाता है, असफलता ही हाथ लगती है। आवश्यकता है, व्यक्ति अपने भीतर छिपी हुई शक्ति को पहचानें, अपनी क्षमताओं को जानें, अपनी योग्यताओं को पहचानें। ज्यों-ज्यों व्यक्ति अपनी क्षमता को पहचानने लगता है त्यों-त्यों उसके भीतर स्वस्थता के लक्षण सुरक्षा, स्फूर्ति, आत्म मूल्यांकन आदि प्रकट होने लगते हैं।

2. मिथ्यादृष्टि का परिष्कार– कहा जाता है कि आज का युग समस्याओं का युग है। भाई-भाई लड़ रहे हैं, पिता-पुत्र की बनती नहीं, माँ का बेटे पर विश्वास नहीं। इन सबका एक कारण है– मिथ्या दृष्टिकोण। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सही समझता है, दूसरे पर सही न होने का आरोप लगाता है। आवश्यकता है हमारा व्यवहार बदले और सद्-असद् का ज्ञान हो। व्यवहार परिष्कार के लिए मिथ्या दृष्टिकोण को बदलना अनिवार्य है। जब तक दृष्टिकोण नहीं बदलेगा तब तक व्यक्तित्व विकास की आशा नहीं की जा सकती।

3. अन्तर्दृष्टि का विकास– व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं — बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति आज समाज में यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त हैं और उन्हीं के कारण आज स्वस्थ समाज रुग्ण समाज में बदल रहा है। जरूरी है कि व्यक्ति अन्तर्मुखी बने। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में, ''रहें भीतर, जीएं बाहर।'' जो व्यक्ति भीतर रहते हुए बाहर जीता है, वह जीवन की सच्चाइयों को समझता है और वैसा ही कार्य करता है जिससे समाज में शान्ति, सहिष्णुता, सौहार्द, प्रेम का वातावरण बना रहे। अन्तर्मुखी चेतना के लिए आवश्यक है– अन्तर्दृष्टि का विकास। जीवन विज्ञान की सहायता से व्यक्ति अन्तर्दृष्टि का विकास कर अपने व्यक्तित्व को ऊंचा उठा सकता है।

4. तनाव-मुक्ति– आज की ज्वलंत समस्या है– तनाव। एक छोटे बालक से लेकर वृद्ध तक सभी तनाव से ग्रस्त हैं। किसी को अर्थ का तनाव, किसी को पारिवारिक तनाव, किसी को मानसिक तो किसी को स्वास्थ्य का तनाव है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में तनाव से ग्रस्त है। तनाव का एक मुख्य कारण है– अभाव। जहां अभाव है, वहां तनाव है। वह व्यक्ति सुखी रह सकता है जो अभाव में रहकर भी खुश रहे। जीवन विज्ञान विद्यार्थी को सिखाता है कि अभाव में तनाव मुक्त कैसे रहा जाए? तनाव व्यक्ति की शक्ति को क्षीण करता है, इसीलिए तनाव-मुक्त जीवन नितांत अपेक्षित है। जीवन विज्ञान की सहायता से व्यक्ति अपने आप को तनाव की अवस्था में भी तनावमुक्त रख सकता है। तनाव की परिस्थिति में भी अपने आपको प्रसन्न रख पाना स्वस्थ व्यक्ति की पहचान है।

5. सर्वांगीण व्यक्तित्व– सर्वांगीण व्यक्तित्व ही विकसित व्यक्तित्व है। जीवन विज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व विकास के लिए व्यक्तित्व के बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक चारों आयामों का विकास जरूरी है। परन्तु वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शारीरिक और बौद्धिक विकास पर ध्यान केन्द्रित हो रहा है, इस बौद्धिकता से नि:सन्देह हमें अच्छे विशेषज्ञ मिल रहे हैं फिर भी यह व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं है। जीवन विज्ञान एक ऐसा उपक्रम है जिसमें शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और भावनात्मक विकास के चारों आयामों पर ध्यान दिया जाता है जिससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके।

6. वृत्तियों से छुटकारा– प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ वृत्तियां होती हैं जैसे– काम, क्रोध, आवेश, अहंकार आदि। ये वृत्तियां व्यक्तित्व को विकृत बनाती हैं। इन वृत्तियों को ध्यान, अनुप्रेक्षा आदि के द्वारा कम किया जा सकता है। जीवन–विज्ञान एक प्रायोगिक शिक्षा है। इसके प्रयोगों के द्वारा वृत्तियों से छुटकारा सम्भव है।

7. सकारात्मक सोच– सकारात्मक सोच का होना व्यक्ति की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है। जीवन विज्ञान एक ऐसा विषय है जिसकी सहायता से सकारात्मक सोच का विकास किया जा सकता है। जब व्यक्ति की सोच सकारात्मक होती है, तब वह कभी तनाव ग्रस्त नहीं होता। सकारात्मक सोच से ही अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

8. नशा–मुक्ति– जीवन विज्ञान चारित्रिक एवं नैतिक मूल्यों के विकास के लिए एक आवश्यक शिक्षा पद्धति है। आज अनेक लोग ऐसे हैं जो किसी न किसी प्रकार का नशा करते हैं। नशा करने वालों का व्यक्तित्व कभी भी ऊंचा नहीं उठ सकता। इसलिए नशामुक्त जीवन हो यह अत्यन्त अपेक्षित है। नशा करने वालों की आदतों में परिवर्तन लाने के लिए जीवन विज्ञान एक अच्छा उपक्रम है। जीवन विज्ञान के प्रयोगों द्वारा हम अपने जीवन को नशा–मुक्त कर सकते हैं। प्रेक्षाध्यान के प्रयोग में अप्रमाद केंद्र पर ध्यान करने से नशा–मुक्ति संभव है।

9. कार्यक्षमता का विकास – प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों द्वारा कार्यक्षमता का विकास होता है। जब हम भीतर झांकते हैं तो हमें हमारी क्षमता का पता चलता है। आत्म विश्वास के द्वारा भी कार्यक्षमता का विकास होता है। आत्म–विश्वास एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने कार्य को कुशलतापूर्वक कर सकता है। जीवन विज्ञान में कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए अनेक उपाय निर्दिष्ट हैं। कार्यक्षमता के विकास के लिए एकाग्रता भी आवश्यक तत्त्व है। एकाग्रता का अर्थ है– जो काम हाथ में है उसी में चित्त को लगाना। एकाग्रता एक ऐसी शक्ति है जिसके बलबूते पर हम किसी भी कार्य को आसानी से कर सकते हैं। बिना एकाग्रता हम किसी भी लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए एकाग्र होना पड़ता है। जीवन विज्ञान के द्वारा हम अपनी एकाग्रता को बढ़ा सकते हैं। यह एक प्रायोगिक पद्धति है। प्रेक्षाध्यान में श्वास प्रेक्षा एकाग्रता को बढ़ाने का सरल एवं सशक्त उपाय है। अत:जीवन विज्ञान एकाग्रता लाने में सहायक हैं जो व्यक्तित्व विकास के लिए बहुत जरूरी है।

2.3 शिक्षा में जीवन विज्ञान

2.3.1 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा

किसी भी देश या राष्ट्र के विकास में शिक्षा का अपना महत्त्व है। शिक्षा ही किसी राष्ट्र की उन्नति का साधन है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विद्यालय एवं विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई है। विद्यालयों एवं विद्यार्थियों की बढ़ती संख्या को देखकर स्पष्ट है कि भारत सरकार भी शिक्षा के प्रचार–प्रसार में निरन्तर प्रयासरत है। इसीलिए आज शिक्षा का स्तर बहुत ऊंचा हो चुका है। परिणामस्वरूप आज एक से एक अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, तकनीसियन, कलाविद् तैयार हुए हैं।

शिक्षा विकास का अपरिहार्य अंग है। अंधविश्वासों, सामाजिक रूढ़ियों, अनुचित मान्यताओं के परिष्कार का माध्यम शिक्षा ही है। साथ ही आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवनगत विकृतियों के परिष्कार का माध्यम भी शिक्षा ही है। वर्तमान शिक्षा में इस ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसलिए उसने अनेक विद्वान तो तैयार कर दिये परन्तु उनमें दायित्व बोध, दूसरों के प्रति करुणा, संवेदनशीलता, प्रतिकूलताओं में सम रहना, सहिष्णुता, अनुशासन आदि मूल्यों का विकास नहीं कर पाई है। शिक्षा तभी सुशिक्षा हो सकती है जब वह आजीविका और बौद्धिक ज्ञान के साथ पारंपरिकता में दक्षता लाए। एक बालक के जीवन निर्माण में शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ रहता है। शिक्षा में ही ऐसी शक्ति है जो बालक के भीतर संस्कारों के बीज वपन कर सकती है। इसलिए आज शिक्षा जगत् में भी जागृति आवश्यक है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार मनुष्य का जीवन शरीर, श्वास, मन, प्राण, भाव, कर्म, चित्त आदि का योग है। सम्यक् रूप से जीवन निर्वाह करने के लिए इन सातों की परिचर्या जरूरी है परन्तु वर्तमान शिक्षा ने केवल शरीर एवं शरीर के पोषण के लिए भोजन

पर ध्यान दिया है। शिक्षा का यह उद्देश्य विद्यार्थी के साथ सही मायने में न्याय नहीं करता। एक विद्यार्थी वर्तमान शिक्षा को ग्रहण कर बहुत बड़ा आदमी तो बन जाता है, बहुत सारे पैसे भी कमा लेता है परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति का छोटा सा झटका उसे निराशा (डिप्रेशन), कुण्ठा (फ्रस्ट्रेशन) के द्वार पर लाकर खड़ा कर देता है। कभी-कभी वह आत्महत्या तक करने की सोचने लगता है।

आज शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे उपक्रमों की आवश्यकता है जिनकी सहायता से विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास हो सके। वह किसी भी परिस्थिति में अपना समायोजन कर सके। ऐसे उपक्रमों की आवश्यकता है जो विद्यार्थी के साथ शिक्षकों का भी संतुलित विकास कर सके। जीवन विज्ञान एक ऐसा ही उपक्रम है जो शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों कें संतुलित विकास की ओर ध्यान देता है।

2.3.2 शिक्षा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

जीवन विज्ञान भारतीय जन-जीवन की आवश्यकताओं, आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति, जीवन मूल्य व सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप शिक्षा में परिवर्तन की चिर अभिलषित अभिलाषा के रूप में शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुआ है। इसका आधारभूत कारण है- भाव परिवर्तन द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण। भाव परिवर्तन जीवन विज्ञान का मुख्य आधार है। निषेधात्मक भावों की जगह विधेयात्मक भावों को चरित्र का अंग बनाना, बुरी आदतों को मिटाकर अच्छी आदतों का निर्माण करना, शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावों से मुक्त रहकर स्वस्थ जीवन जीना, अपनी शैली और कुशलता को बढ़ाना आदि ऐसे विषय हैं जिनसे आज का विद्यार्थी अछूता है, उनका प्रशिक्षण देना जीवन विज्ञान का मूल कार्य है। जीवन विज्ञान की शिक्षा के क्षेत्र में कुछ उपयोगिताओं को हम निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं।

1. अनुशासन का विकास- अनुशासन का सीधा सा अर्थ है– नियन्त्रण। नियन्त्रण दो प्रकार से होता है–1. परानुशासन– दूसरों के द्वारा किया जाने वाला अनुशासन, 2. स्वानुशासन– स्वयं अपने ऊपर किया जाने वाला अनुशासन। जब तक व्यक्ति स्वयं पर अनुशासन करना नहीं जानता तब तक उस पर दूसरे अनुशासन करें, उसे गलत कार्य करने से रोके ऐसी अपेक्षा रहती है। इस सन्दर्भ में शिक्षकों के द्वारा विद्यार्थियों पर किया जाने वाला नियन्त्रण परानुशासन है। परानुशासन या दूसरों के द्वारा शासित होना किसी को अच्छा नहीं लगता परन्तु स्वानुशासन से पूर्व इसकी अपेक्षा अपरिहार्य है। विद्यार्थियों में परानुशासन को सहन करने की क्षमता के विकास के साथ-साथ स्वानुशासन की क्षमता जागे इसके लिए शिक्षा में जीवन-विज्ञान को जोड़ना बहुत उपयोगी है।

2. सृजनात्मक शक्ति का विकास- सृजनात्मक शक्ति के विकास का अर्थ है– जो पहले से चला आ रहा है, उससे हटकर कुछ नया और रचनात्मक कार्य करने की क्षमता का विकास। यह क्षमता कुछ विद्यार्थियों में सहज विकसित होती है और कुछ में इसका विकास किया जा सकता है। जीवन विज्ञान के अन्तर्गत दर्शनकेन्द्र पर किये जाने वाले अन्तर्दृष्टि जागरण के प्रयोग सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए बहुत उपयोगी हैं। आज का युग प्रतिस्पर्धा का युग है। इस युग में जिसकी जितनी सृजनात्मकता है वह उतना ही प्रगति कर सकता है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे प्रयोग जुड़े जिससे विद्यार्थियों की सृजनात्मक शक्ति का विकास हो सके।

3. स्मृति का विकास- आज विद्यार्थियों की सबसे बड़ी समस्या है-विस्मृति। छोटी उम्र में भी याद करने की समस्या बनी रहती है। यदि बड़ा काम करना है, स्वयं का एवं राष्ट्र का विकास करना है तो स्मृति का विकास बहुत जरूरी है। स्मृति का विकास न केवल विद्यार्थियों के लिए अपितु शिक्षकों के लिए भी बहुत जरूरी है। जीवन विज्ञान एक प्रायोगिक शिक्षा-पद्धति है। इसके विविध प्रयोग प्राणायाम, ध्वनि एवं मुद्रा व्यक्ति के मस्तिष्कीय क्षमता को विकसित करने में लाभदायी हैं। इसके अन्तर्गत ऐसे प्रयोग करवाये जाते हैं जिससे व्यक्ति के मस्तिष्क के वे प्रकोष्ठ, न्यूरोन्स प्रभावित होते हैं जो व्यक्ति की स्मरण शक्ति के विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं।

4. पक्षपात रहित व्यवहार का निर्माण- किसी भी देश, समाज व राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक है– विद्यार्थियों का सम्यक् निर्माण। बहुत बार शिक्षा के क्षेत्र में भी पक्षपात देखा जाता है। वे विद्यार्थी ज्यादा अंक प्राप्त कर लेते हैं जो योग्य नहीं हैं परन्तु उनका सम्बंध शिक्षकों से है या वह शिक्षक के चहेते हैं जिसके कारण योग्य विद्यार्थी अन्दर से टूट जाते हैं। अतः आवश्यक है कि शिक्षकों का व्यवहार न्यायपूर्ण हो। शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच प्रेम का वातावरण बना रहे। विद्यार्थी, शिक्षक का सम्मान करें, अनुशासन में रहें और शिक्षक विद्यार्थियों की योग्यता का अंकन करें, उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयास करें, उन्हें वात्सल्य दें। इसके लिए पक्षपात रहित व्यवहार का निर्माण जरूरी है जो जीवन विज्ञान से संभव है। अनेकान्त का व्यवहारिक प्रयोग शिक्षक के स्वस्थ व्यवहार निर्माण के लिए बहुत जरूरी है।

5. आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण- कोरा बौद्धिक ज्ञान विद्यार्थियों को सब कुछ दे सकता है परन्तु सच्ची शांति जिसकी तलाश में वह दिन-रात घूम रहा है, नहीं दे सकता। कोरे बौद्धिक विकास से व्यक्ति इंजीनियर, वैज्ञानिक, डॉक्टर आदि

बन जाने पर भी अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में अपना मानसिक संतुलन नहीं रख पाता है। वह भावावेश में आकर बहुत बार गलत व्यवहार कर लेता है। संतुलित व्यक्तित्व के लिए भावों पर नियन्त्रण रखना बहुत जरूरी है। भावों के नियन्त्रण के लिए व्यक्ति को अध्यात्म की ओर अग्रसर होना जरूरी है। इसके लिए जीवन विज्ञान एक सम्यक् कदम है। क्योंकि जीवन विज्ञान एक आध्यात्मिक शिक्षा है। अध्यात्म का अर्थ है 'आत्मा के निकट रहना' जीवन विज्ञान के द्वारा शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों में अध्यात्म के बीज वपन किये जा सकते हैं।

6. संस्कार-निर्माण- आज हमने तकनीकी के क्षेत्र में तो बहुत प्रगति की है परन्तु संस्कृति एवं संस्कारों के क्षेत्र में बहुत ह्रास भी हुआ है। प्रत्येक बच्चे के माता-पिता चाहते हैं कि उनका बच्चा सुसंस्कारित हो, अनुशासनप्रिय हो परन्तु ऐसा हो नहीं रहा है। बच्चों में उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है कारण शिक्षा का सम्यक् उपयोग न किया जाना है। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में प्राथमिक शिक्षा का अपना महत्त्व है, क्योंकि शिक्षा ही बालक के व्यक्तित्व निर्माण का सम्यक् साधन है। एक समय था जब भारतवर्ष शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी था। शनैः शनैः शिक्षा पद्धतियों में परिवर्तन एवं ह्रास होने के साथ-साथ ब्रिटिश शासनकाल में शासन की नीतियों का प्रभाव केवल शिक्षा पर ही नहीं अपितु उसके प्रसार पर भी पड़ा। धीरे-धीरे शिक्षा ने अपने प्राचीन रूप को बदल कर वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया। अपेक्षा है शिक्षा के इस वर्तमान स्वरूप में पुनः बदलाव हो। बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाए जिससे बच्चों के बौद्धिक विकास के साथ-साथ संस्कारों का भी विकास हो। शिक्षा के साथ जीवन विज्ञान को जोड़ा जाए तो बच्चों को संस्कारित किया जा सकता है। संस्कार निर्माण के लिए जीवन-विज्ञान अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि यह एक मूल्यपरक शिक्षा है।

2.4 प्रशासन में जीवन विज्ञान

2.4.1 प्रशासन : अर्थ

प्रशासन में जीवन-विज्ञान की उपयोगिता को समझने से पूर्व प्रशासन क्या है? किसे कहते हैं? समझना बहुत जरूरी है।

प्रशासन के लिए अंग्रेजी में Administration शब्द प्रयुक्त होता है, जो लेटिन भाषा के दो शब्द Ad+Ministrare से बना है। फ्रेंच में यह शब्द Administer तथा पुरानी अंग्रेजी में Administren रहा है। जिसका अर्थ है- काम करवाना, या व्यक्तियों की देखभाल करना या कार्यों की व्यवस्था करना।

Oxford शब्दकोष में Administration को परिभाषित करते हुए कहा गया – " The activities that are done in order to plan, organize and run a business, school or other institution."

प्रशासन के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं–

♦ जैड ए विग के अनुसार–"प्रशासन एक चैतन्यपूर्ण ध्येय की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला नियोजित कार्य है।"

♦ पिफनर एवं प्रेस्थान के अनुसार–"वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक संसाधनों के संगठन और संचालन को प्रशासन कहते हैं।"

♦ विलियम न्यूमैन के अनुसार–"कुछ सामान्य लक्ष्यों की दिशा में समूहों के प्रयासों का मार्गदर्शन, नेतृत्व तथा नियन्त्रण प्रदान करना ही प्रशासन है।"

सम्पूर्ण प्रशासन को प्रायः दो दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास किया जाता है – 1. प्रबंध दृष्टिकोण (Managenal View) 2. एकीकृत दृष्टिकोण (Integral View)

प्रबंधकीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रशासन का तात्पर्य उन्हीं गतिविधियों या व्यक्तियों के कृत्यों से लगाया जाता है जो "प्रबंध" से सम्बन्धित कार्य करते हैं। वास्तव में प्रबन्ध किन्हीं निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समस्त प्रकार के संसाधन जैसे : मशीन, मनुष्य, प्रविधि, धन तथा तकनीक इत्यादि को व्यवस्थित, समन्वित तथा नियन्त्रित करने की प्रक्रिया है। प्रशासन में नियन्त्रण, समन्वय तथा व्यवस्था बनाये रखने का कार्य उच्च अधिकारी अथवा प्रबंधक करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार एक लिपिक या सहायक कर्मचारी प्रशासन के भाग नहीं कहला सकते हैं।

जबकि दूसरी ओर एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन का अर्थ उन सभी क्रियाओं से है जिनका संचालन एक निश्चित क्षेत्र (संगठन) की नीतियों तथा कार्यों के क्रियान्वयन से होता है। इस दृष्टिकोण से संगठन के उच्च पदाधिकारी तकनीकी कार्मिक, लिपिकीय वर्ग तथा श्रमिकों सहित सभी सहायक कर्मचारी मिलकर प्रशासन कहलाते हैं।

किसी भी देश व राष्ट्र के विकास के लिए उस देश के विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, कम्पनियों का प्रशासन सक्षम एवं स्वस्थ होना बहुत जरूरी है। प्रशासनिक कार्यों को संचालन करने वाले चाहे उच्च पदाधिकारी हों या सामान्य कर्मचारी यदि किसी भी रूप में अक्षम एवं अस्वस्थ हैं तो कार्य का संचालन सही ढंग से नहीं हो सकता। कार्य का परिणाम बहुत ऊंचा नहीं हो सकता है। समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए प्रशासनिक कार्यों को करने वालों को विनम्र, संवेदनशील, नैतिक, कार्यकुशल, सदाचारी होना चाहिए। जीवन विज्ञान के द्वारा उनमें मौलिक परिवर्तन लाया जा सकता है।

2.4.2 प्रशासन में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

1. संवेदनशीलता– प्रशासकों को सफल प्रशासन के लिए सहिष्णु, विनम्र तथा नैतिक होने के साथ-साथ संवेदनशील होना बहुत जरूरी है। जब तक प्रशासक दूसरों की समस्याओं को नहीं समझता जब तक दूसरों के प्रति संवेदनशील नहीं होता, वह अच्छा प्रशासक नहीं बन सकता। निदेशक श्री पुखराज सालेचा के शब्दों में— प्रत्येक अधिकारी को संवेदनशील, समाज के प्रति समर्पित एवं तनाव से मुक्त रहकर समय पर सही निर्णय लेने वाला होना चाहिए। यदि प्रशासन में जीवन विज्ञान को जोड़ा जाए तो प्रशासनिक व्यक्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। जीवन विज्ञान एक प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है। प्रयोगों से सब कुछ सम्भव है यदि व्यक्ति इन प्रयोगों को करके देखे तो वह स्वयं अनुभव करने लगेगा कि परिवर्तन घटित हो रहा है।

2. कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता– आज कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने वाले बहुत कम मिलेगें। अधिकांश व्यक्ति अपने कार्यालय या विद्यालय के कार्यों को इसलिए करते हैं कि उन्हें तनख्वाह मिलती है। इसके अलावा संस्थान या देश का विकास उनके लिए कोई मायने नहीं रखता। यह सोच सही नहीं है। यदि अधिकारी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक नहीं रहेगा तो निश्चित रूप से इसका प्रभाव समाज, संस्थान व देश के विकास पर पड़ेगा। कर्त्तव्य का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है। जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा है, इसके द्वारा मूल्यों का विकास सम्भव है। जीवन विज्ञान और प्रेक्षाध्यान के प्रयोग व्यक्ति की सृजनात्मक शक्ति का विकास करते हैं और उसे कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करते हैं। कर्त्तव्य की अनुप्रेक्षा प्रशासनिक क्षेत्रों में कार्य करने वालों के लिए बहुत जरूरी है।

3. एकाग्रता– एकाग्रता का अर्थ है— जो काम हाथ में लें उसी में चित्त को लगाना। एकाग्रता एक ऐसी शक्ति है जिसके बलबूते हम किसी भी कार्य को आसानी से कर सकते हैं। एकाग्रता के बिना हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। लक्ष्य की पूर्ति के लिए एकाग्र होना पड़ता है। जीवन विज्ञान के द्वारा हम अपनी एकाग्रता को बढ़ा सकते हैं। प्रेक्षाध्यान में श्वास प्रेक्षा एकाग्रता को बढ़ाने का सरल एवं सशक्त उपाय है। अत: जीवन विज्ञान यदि प्रशासन में हो तो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित नहीं होंगे और अपने संस्थान के कार्यों को नए एवं अच्छे ढंग से कर पाऐंगे।

4. नैतिकता का विकास – एक सफल प्रशासक का नैतिक व ईमानदार होना, उसके व्यक्तित्व को बहुत प्रभावित करता है, यदि एक प्रशासक में नैतिकता का गुण विकसित हो जाए तो वह समाज को भ्रष्टाचार, अत्याचार आदि बुराईयों से बचा सकता है। नैतिकता प्रशासनिक सेवाओं की रीढ़ है। उसके अभाव में प्रशासन की जो स्थिति है उसके परिणाम भोगने को सभी विवश हैं। व्यवस्था का ढांचा बाहर से कितना ही सुन्दर हो किन्तु जो व्यवस्था का संचालक है वह कुशल, तटस्थ अपने आवेगों पर नियन्त्रण रखने वाला तथा नैतिक हो तभी वास्तविक सुन्दरता आ सकती है। जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा है। जीवन विज्ञान को प्रशासनिक क्षेत्र में लागू किया जाए तो प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी में अहिंसा, सदाचार, नैतिकता, समन्वय आदि नैतिक गुण विकसित हो सकते हैं।

5. आत्म-विश्वास में वृद्धि– प्रशासकों में आत्म-विश्वास का होना बहुत आवश्यक है। व्यक्ति में आत्म-विश्वास होता है तो वह अपने कार्य को कुशलतापूर्वक कर सकता है। किसी भी कार्य को करने के लिए आत्मविश्वास का होना बहुत जरूरी है। जीवन विज्ञान एक सैद्धान्तिक व प्रायोगिक शिक्षा है, इसमें सिद्धान्तों की प्रेरणा दी जाती है और प्रयोगों के द्वारा उन्हें जीवन में अंगीकृत किया जाता है। जब इन सिद्धांतों को व्यक्ति जीवन में अपना लेता है तो उसके आत्म-विश्वास में वृद्धि हो जाती है और वह अपना कार्य पूर्ण विश्वास के साथ कर सकता है।

6. तनाव-मुक्ति– व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिकता की ओर कदम बढ़ाता है, उसका आकर्षण जैसे-जैसे बाहर की ओर बढ़ता है, चंचलता बढ़ती चली जाती है, मन अशांत हो जाता है। मन की अशांति ही तनाव का कारण बन जाती है। तनाव आज की एक ज्वलंत समस्या है। तनाव से ग्रसित अधिकारी हो या कर्मचारी अपने कर्त्तव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते। चूंकि तनाव व्यक्ति की शक्ति को क्षीण कर देता है। इसलिए तनाव मुक्त जीवन अत्यन्त अपेक्षित है। जीवन विज्ञान के द्वारा व्यक्ति अपने आपको तनाव की अवस्था में भी तनाव मुक्त रख सकता है।

बोध प्रश्न-1

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

(1) परिवार किसे कहते हैं? स्पष्ट करते हुए पारिवारिक समस्याओं पर अपने विचार प्रस्तुत करें।

(2) वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की स्थिति स्पष्ट करते हुए शिक्षा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता बताइये।

(3) प्रशासनिक क्षेत्र में जीवन विज्ञान के महत्त्व को व्याख्यायित कीजिए।

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर हाँ या ना में दीजिए —

(1) व्यक्तित्व के दो प्रकार हैं।

(2) जिसमें सुरक्षा की भावना नहीं होती वह सन्तुलित व्यक्तित्व है।

(3) आत्म-तिरस्कार की भावना अविकसित व्यक्तित्व की पहचान है।

(4) सृजनात्मक शक्ति के विकास का अर्थ है, कुछ नया करने की क्षमता का विकास।

(5) प्रशासक के लिए आवश्यक गुण है — संवेदनशीलता।

(6) तनाव का एक कारण है — अभाव।

2.5 चिकित्सा में जीवन विज्ञान

महान् चिंतक एवं लेखक डॉक्टर जॉनसन ने कहा — '' To preserve health is a moral and religious duty, for health is the basis of all social virtues—we can no longer be useful when not well.'' अर्थात् स्वास्थ्य को बनाए रखना एक नैतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्य है क्योंकि स्वास्थ्य ही सामाजिक सद्गुणों का आधार है— अस्वस्थ अवस्था में हम उपयोगी नहीं रह पाते। संस्कृत में भी एक कहावत है— ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'' अत: स्वास्थ्य को बनाए रखना जहां व्यक्ति के निजी तथा पारिवारिक हित में है, वहां समाज तथा देश के लिए भी लाभकारी है।

इसीलिए जब से मनुष्य का सभ्य समाज के रूप में विकास हुआ है तब से ही चिकित्सक लगातार इस कोशिश में हैं कि अधिक से अधिक प्रभावशाली चिकित्सा पद्धतियों तथा औषधियों की खोज की जाए ताकि मनुष्य लम्बे समय तक निरोग रह सके।

पुरातन काल से लेकर आधुनिक समय तक शरीर के अनेक रोगों तथा विकारों को दूर करने के लिए प्राकृतिक चिकित्सा, आयुर्वेद, एक्युप्रेशर, शिआत्सु, होम्योपैथी, तन्त्र-मन्त्र आदि अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ प्रचलित हुई हैं।

चिकित्सा एक बहुत बड़ा विज्ञान है। इस विज्ञान का लाभ करोड़ों, अरबों लोग उठा रहे हैं। स्वास्थ्य लाभ ही इस विज्ञान का विशिष्ट महत्त्व है पर आश्चर्य इस बात का है कि चिकित्सा की नई विधियों, नये प्रयोग व नये आविष्कार होने पर भी मनुष्य का स्वास्थ्य गिरता जा रहा है।

2.5.2 बीमारी के कारण

कुछ लोग मानते हैं कि रोग का सबसे बड़ा कारण तनाव है। मस्तिष्क में तनाव, मन में तनाव, स्नायुओं में तनाव, मांसपेशियों में तनाव, तनाव में व्यक्ति उलझा रहता है। इनसे नई बीमारियाँ पैदा होती रहती हैं। कुछ योगाचार्यों के अनुसार मनुष्य का शरीर केवल भौतिक पदार्थों का जोड़ मात्र नहीं है जो केवल अस्थि, मांस, रक्त, स्नायुओं आदि से ही बना हुआ हो। बल्कि यह एक आत्मा, मन एवं भौतिक शरीर का संयुक्त रूप है। इसकी जीवन्तता का मुख्य कारण आत्मशक्ति है जिसका सारा कार्य प्राणशक्ति और मन की शक्ति के आधार पर चलता है। शरीर के सुसंचालन के लिए यही मुख्य घटक है। भौतिक शरीर का संचालन आध्यात्मिक शक्तियों की सहायता से हो रहा है, इसलिए इन तीनों का सहयोग ही इसकी क्रियाशीलता व सुव्यवस्था का कारण है। इन तीनों के पारस्परिक सहयोग के असंतुलन से शरीर विकृत हो जाता है। कई प्रकार की बीमारियों से ग्रस्त होकर, आत्मा का शरीर से सम्बंध विच्छेद होने से मृत्यु हो जाती है। मन से सम्बंध विच्छेद होने पर पागलपन हो जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में, अध्यात्म की भूमिका पर खड़े होकर चिंतन किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि बीमारी का मूल है— कषाय। उत्तेजना, अहं, वंचना, तृष्णा आदि ऐसे मनोभाव हैं जो मन के भीतरी परतों के नीचे रहकर भी अपना काम करते रहते हैं। वस्तुत: उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि चिकित्सा जगत् में आज कई प्रकार की चिकित्सा पद्धतियां प्रचलित हुई है फिर भी बीमारियां निरंतर बढ़ती जा रही है। इसका मूल कारण है- चिकित्सक बीमारियों के जड़ तक नहीं पहुंच पाए हैं। हमें मूल तक पहुंचना होगा।

2.5.3 चिकित्सा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

चिकित्सा जीवन विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। जीवन विज्ञान में स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याओं को समझने, कारणों का पता लगाने तथा उनका निराकरण करने में सहायता मिलती है। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए जीवन विज्ञान में प्रायोगिक अभ्यास कराया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर व्यवहार को बदलने और समझने की क्षमता होती है। जीवन विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक क्षमताओं को जागृत किया जाता है। इससे वह अपनी दमित भावनाओं एवं व्यवहार के प्रति जागरूक होता है।

चिकित्सा के तीन क्षेत्र हैं — शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक। इन तीनों क्षेत्रों में जीवन विज्ञान निम्न प्रकार से कार्य करता है—

1. शारीरिक चिकित्सा - जीवन विज्ञान के दो पक्ष हैं—सैद्धान्तिक पक्ष एवं प्रायोगिक पक्ष। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत अणुव्रत और प्रयोगिक पक्ष के अन्तर्गत प्रेक्षाध्यान सम्मिलित है। प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा के पाँच सूत्र बताए गये हैं — 1. भावक्रिया, 2. प्रतिक्रिया विरति, 3. मैत्री, 4. मिताहार, 5. मितभाषण। यह पाँचों ही शारीरिक चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

(i) भावक्रिया :- भावक्रिया का अर्थ है- वर्तमान क्षण की प्रेक्षा। वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भावक्रिया है। दूसरे शब्दों में जिस कार्य में लगे हुए हैं उसी में दत्तचित्त रहना। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना लोक में उड़ान भरते हुए कार्य करना 'द्रव्य क्रिया' है। इससे शक्ति का अपव्यय होता है जो रोग को निमन्त्रण है।

(ii) प्रतिक्रिया विरति :- क्रिया करना, प्रतिक्रिया न करना। मनुष्य प्रतिक्रिया का जीवन जीता है। वह बाह्य वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित होकर कार्य करता है। हमें प्रतिक्रिया से बचना चाहिए तथा क्रिया का जीवन जीना चाहिए।

(iii) मैत्री :- हमारा व्यवहार मित्रता से ओत-प्रोत होना चाहिए। उसमें मैत्री की भावना का पूर्ण विकास हो। हमें मैत्रीपूर्ण जीवन जीना चाहिए। इस उपसंपदा को स्वीकार करने का अर्थ है अपने जीवन में करुणा का विकास करना, प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति की भावना। प्रेक्षाध्यान की इस उपसंपदा को स्वीकार कर व्यक्ति अपने आपको शारीरिक रूप से स्वस्थ महसूस कर सकता है।

(iv) मिताहार :- मिताहार का अर्थ है — कम खाना। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नहीं होता अपितु ध्यान और चेतना पर भी होता है। आदमी अनावश्यक बहुत खाता है। अनावश्यक भोजन विकृति पैदा करता है। अत: मिताहार के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है।

(v) मितभाषण :- मितभाषण अर्थात् कम बोलना। बोलना भी जरूरी होता है क्योंकि हम समाज में रहते हैं। यह ठीक है कि बोले बिना नहीं रहा जा सकता है परन्तु अनावश्यक न बोलें। अनावश्यक बोलने से शक्ति का अपव्यय होता है। मित्तभाषण से शक्ति का संचय होता है।

2. मानसिक चिकित्सा- शरीर स्थूल है, दृश्य है, हमें दिखाई देता है। मन सूक्ष्म है, अदृश्य है, उसे कार्य से जाना जाता है वह दिखाई नहीं देता। इन्द्रियों का संचालक है—मन। मन हमारे लिए उपयोगी है। इसलिए इसे स्वस्थ रखना हमारा दायित्व है। मानसिक स्वास्थ्य की चार कसौटियां है— 1. सहिष्णुता, 2. धृति, 3. स्मृति और 4. बुद्धि।

मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए मन के बल को बनाए रखना बहुत जरूरी है तथा इन चारों को स्वस्थ रखना भी बहुत जरूरी है। निरन्तर स्मृति, चिंतन, कल्पना करने से मन बीमार हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए जीवन विज्ञान के निम्न सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) महाप्राण ध्वनि :- यह हमारे मस्तिष्क के ज्ञान तंतुओं को शक्तिशाली बनाती है। महाप्राण ध्वनि के प्रयोग से न कल्पना शेष रहती है न चिंतन। मन खाली हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण प्रयोग है- महाप्राण ध्वनि। चूंकि ध्वनि का अपना विज्ञान है। यह तरंगों का निर्माण करती है और मस्तिष्क और मन को प्रभावित करती है।

(ii) सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा :- हमारी इन्द्रियां मन की दुर्बलता को बढ़ाती हैं। ये मन को विषयों की ओर ले जाती हैं। हम एक बार बाह्य जगत् से अपना सम्पर्क काट दें तथा इन्द्रियों को विश्राम दें तो मन का अपने आप विश्राम हो जाता है। सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा का प्रयोग मन का बाह्य जगत से सम्पर्क काटने का उपाय है।

(iii) लेश्याध्यान :- एक प्रयोग है सफेद व हरे रंग के ध्यान का। हरा रंग अन्तर्मुखी बनाने वाला है। यह विजातीय तत्त्वों को दूर करता है। दर्शन केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करने से मन शांत होता है। ज्योतिकेन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान भी मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्त्वपूर्ण है।

(iv) निर्विचारिता :- निर्विचारता का अर्थ है विचारों से मुक्त रहना। जो व्यक्ति अपने मन को विचारों से खाली रखता है, उसका विकास हो जाता है, इसलिए निर्विचारता का अभ्यास जरूरी है। निर्विचारता का जितना-जितना प्रयोग है मन को स्वस्थ बनाए रखने का उपाय है।

(v) दीर्घश्वास :- जो व्यक्ति दीर्घश्वास प्रेक्षा का प्रयोग करता है वह मन को खाली रख सकता है। एकाग्रता मन के लिए सबसे बड़ा टॉनिक है।

3. भावनात्मक चिकित्सा- शरीर एवं मन बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व हैं। भावनात्मक स्वास्थ्य हमारे अन्तर्जगत् का प्रश्न है। भीतर जगत् में कुछ ऐसी घटनाएं होती है जिनकी अभिव्यक्ति को हम जानते हैं, किन्तु उनके मूल में जो है, उसे शायद बहुत कम जानते हैं। मूल है भाव। भाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। सकारात्मक भाव, समता, विनम्रता, ऋजुता आदि मन और शरीर दोनों को स्वस्थ बनाते हैं, वहीं नकारात्मक भाव, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, माया आदि मन और शरीर दोनों को अस्वस्थ बनाते हैं। भावों का परिष्कार अपने स्वास्थ्य का परिष्कार है। भावजगत् अन्तर का जगत् है। इसे स्वस्थ रखने के लिए जीवन विज्ञान में निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं —

(i) अन्तर्दृष्टि का प्रयोग :- दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करने से अन्तर्दृष्टि जागृत होती है। जब अन्तर्दृष्टि जागृत होती है तब भावजगत् के संघर्ष पर हम विजय प्राप्त कर लेते हैं।

(ii) शांति केन्द्र पर ध्यान :- एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है— शांति केन्द्र। इस केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान करने से हमारी भावधारा परिष्कृत होती है क्योंकि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का संगम बिंदु है—'हाइपोथैलमस' शांतिकेन्द्र पर ध्यान करने से हाइपोथैलेमस सक्रिय होता है, जिससे भावधारा के परिष्कार में सहायता मिलती हैं।

उपरोक्त प्रयोग चिकित्सा के लिए महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है।

2.6 सामाजिक जीवन में जीवन विज्ञान

2.6.1 समाज : अर्थ

समाज स्वयं एक व्यवस्था है जिसका निर्माण व्यक्ति ओर समूह की अन्तर्क्रियाओं के द्वारा होता है। सामान्य शब्दों में कहें तो किसी विशेष उद्देश्य से ओत-प्रोत व्यक्तियों का समूह समाज है। वस्तुत: समाज क्या है? इस पर अनेक विचारधाराएं सामने आई है।

'हरबर्ट स्पेन्सर' के अनुसार ''समाज एक जीव-रचना है।'' जीव रचना के समान ही समाज का भी निर्माण होता है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग पृथक् होते हुए भी कार्यात्मक रूप से एक-दूसरे के पूरक है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों में कार्यात्मक एकता पाई जाती है। समाज का निर्माण भी कुछ कोशिकाओं से होता है। समाज की कोशिकाएं बहुत से व्यक्ति हैं जिनका समाज से बाहर रहकर कुछ भी अस्तित्व नहीं है।

तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और समाज का गहरा संबंध है। समाज में रहने वाले व्यक्ति के आधार पर समाज को दो भागों में विभाजित किया जाता है- रूग्ण और स्वस्थ समाज। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार स्वस्थ समाज के तीन लक्षण हैं —

(i) जिस समाज में काम पर नियंत्रण किया जाता है, वह स्वस्थ समाज है।

(ii) जिस समाज में अनावश्यक हिंसा नहीं होती, वह स्वस्थ समाज है।

(iii) जिस समाज में आर्थिक अपराध नहीं होता, वह स्वस्थ समाज है।

आधुनिक युग में समाज की ओर दृष्टिपात किया जाए तो पता चलता है कि आज के समाज में उपरोक्त तीनों ही लक्षण बहुत कम पाए जाते हैं। समाज में हिंसा, अपराध, काम-वासना बढ़ती जा रही है। समाज में बढ़ती हुई रुग्णता को कम करना तथा स्वस्थ समाज की संरचना के लिए जीवन विज्ञान एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। जहाँ समाज है वहां समस्या न हो ऐसा सम्भव नहीं। समाज की मुख्य समस्याएं है- (i) नैतिक मूल्यों की कमी, (ii) रूढिवादिता, (iii) जाति-भेद समस्या, (iv) दहेज प्रथा, (v) बाल विवाह, (vi) वैचारिक भिन्नता, (vii) प्रदर्शन (आडम्बर), (viii) भ्रूणहत्या। जीवन विज्ञान इन समस्याओं का सीधा उपाय है।

2.6.2 समाज में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

1. व्यक्ति का परिष्कार- कहा जाता है आज का युग समस्याओं का युग है। समस्याओं का मुख्य कारण है- असद् व्यवहार। आज समाज में जितनी रुग्णता फैली है, जितनी बुराइयां पनप रही हैं, उसका मुख्य कारण है- मिथ्या व्यवहार। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ के घेरे में बद्ध है। केवल स्वयं के लिए सोचता है, स्वयं के लिए काम करता है, स्वयं के लिए ही सब कुछ। अपेक्षा है इस मनोवृत्ति का परिष्कार हो। इस मनोवृत्ति के परिष्कार के लिए दृष्टिकोण को बदलना बहुत जरूरी है। जीवन विज्ञान के प्रयोगों द्वारा दृष्टिकोण का परिष्कार सम्भव है। जो व्यक्ति भीतर रहते हुए बाहर जीता है उसका व्यवहार परिवर्तित हो जाता है और वह समाज में परस्परता तथा

मैत्री के साथ रहने लगता है। व्यक्ति का परिष्कार समाज के लिए बहुत आवश्यक है। जो जीवन विज्ञान के द्वारा संभव है।

2. सामाजिक मूल्यों का विकास- व्यक्ति-व्यक्ति में मूल्यों का विकास होना चाहिए। जहां मूल्यों को महत्त्व दिया जाता है, वहां स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। रूढ़िवादिता, जाति-भेद की समस्या, नैतिक मूल्यों का अभाव ये सब रुग्ण समाज के लक्षण हैं, जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा है। इसके द्वारा अहिंसा, समन्वय, सहिष्णुता, नैतिकता आदि सामाजिक मूल्य प्राप्त होते हैं। अतः जीवन विज्ञान की सहायता से समाज में रहने वाले व्यक्ति-व्यक्ति में सामाजिक मूल्यों की चेतना जागृत कर स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सकता है।

3. अनेकान्त का व्यवहारिक प्रयोग- व्यक्ति का अनेकान्तिक दृष्टिकोण समाज को सफलता के पथ पर ले जाता है। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण एकान्तिक होगा, तब तक वह सिर्फ अपने को ही सही समझेगा। यही आग्रह की भावना लोगों में एक-दूसरे के प्रति द्वेष की भावना को बढ़ाती है। समाज में व्याप्त समस्याओं के निराकरण के लिए अनेकांत का व्यावहारिक प्रयोग बहुत ही जरूरी है क्योंकि अनेकान्त के प्रयोग से ही व्यक्ति समझ सकता है कि सभी विचार अलग-अलग दृष्टिकोण से सही हैं। अनेकांत जीवन विज्ञान की एक प्रविधि है।

4. व्रतों का विकास - व्रत का सामान्य अर्थ है— नियम। समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा छोटे-छोटे व्रतों का ग्रहण किया जाना बहुत जरूरी है। यह छोटे-छोटे व्रत व्यक्ति को अध्यात्म् की ओर प्रेरित करते हैं। जब व्यक्ति व्रतों को अपना लेता है तब वह समाज में भ्रष्टाचार, अत्याचार नहीं करता। सभी के साथ सामंजस्य का व्यवहार करता है। जीवन विज्ञान में अणुव्रत के 12 नियम निर्देशित हैं, जो व्यक्ति को अध्यात्म का मार्ग दिखाते हैं। व्रतों का विकास करके ही व्यक्ति समाज को सही पथ पर ले जा सकते हैं।

2.7 उद्योग में जीवन विज्ञान

2.7.1 उद्योग : अर्थ

आज हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस विशाल देश के नवनिर्मित बड़े-बड़े कारखानों का, इस कृषि प्रधान देश की खेती-बाड़ी का और अन्य छोटे-बड़े उद्योगों का संचालन सुचारू रूप से किस प्रकार किया जाये?

प्रारम्भ में जब उद्योग में मनोविज्ञान का कोई हाथ नहीं था, उस समय उचित कर्मचारी के चयन के लिए वैयक्तिक भिन्नताएं जैसी समस्या पर कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब उद्योगों को मनोविज्ञान का चोला पहनाया गया तो उस समय भी इस विचारधारा को कोई विशेष मान्यता प्राप्त नहीं हुई। उद्योगपतियों का विचार था कि उचित चयन और मार्गदर्शन तथा प्रशिक्षण के द्वारा कर्मचारी से कोई भी कार्य करवाया जा सकता है। लेकिन धीरे-धीरे अनुसंधानकर्त्ताओं ने अपने शोध कार्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्येक कर्मचारी प्रत्येक कार्य को सुचारू रूप से नहीं कर सकता चाहे उसका चयन कितनी ही सावधानीपूर्वक किया गया हो। इसके पश्चात उन्होंने अनुभव किया कि प्रत्येक कर्मचारी को एक जैसी सुविधा एवं तकनीकी प्रशिक्षण देने के बावजूद भी उसे कार्य-विशेष के लिए पूर्णतः उपयोगी नहीं बनाया जा सकता। एक जैसी मशीन, एक जैसा औद्योगिक वातावरण एवं एक जैसी सुविधाओं के बावजूद कर्मचारी के उत्पादन के परिणाम और गुणों में बहुत बड़ा अन्तर होता है। एक कर्मचारी 8 घंटे में जितना उत्पादन करता है दूसरा कर्मचारी उतने ही समय में उससे डेढ़गुना या दोगुना अधिक उत्पादन कर देता है।

मनोवैज्ञानिकों ने इस भिन्नता का कुछ भी कारण माना हो जीवन विज्ञान के अनुसार वैयक्तिक योग्यता की भिन्नता का एक बहुत बड़ा कारण है- अस्वस्थता। व्यक्ति तीन प्रकार से अस्वस्थ होते हैं- शारीरिक रूप से, मानसिक रूप से एवं भावनात्मक रूप से। यदि कर्मचारी इन तीनों में से किसी भी रूप में प्रभावित है, अस्वस्थ है तो उत्पादन का स्तर निम्न होगा। वह चाहते हुए भी उत्पादन के साथ न्याय नहीं कर पाएगा। उत्पादन बढ़े इसके लिए पहली शर्त है- कर्मचारी शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक तीनों प्रकार से स्वस्थ हो।

उत्पादन का स्तर गिरने में एक बहुत बड़ा कारण है 'कर्मचारियों की अस्वस्थता' तो दूसरा कारण है 'उद्योगपतियों द्वारा शोषण'।

उद्योगपति समाज के बहुत बड़े वर्ग का शोषण करते हैं, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों का संचालन और नियंत्रण करने वाले उद्योगपति मजदूर की मेहनत और किसान की लागत तक नहीं देना चाहते। उद्योगपति अधिक से अधिक उत्पादन चाहता है, मजदूर अधिक से अधिक वेतन चाहता है। उत्पादन के लिए उद्योगपति भौतिक वस्तुओं पर अधिक ध्यान देता है और हड़ताल के समय मानवतावादी दृष्टिकोण की बात करता है। परिणामस्वरूप मालिक-मजदूर का संतुलन बिगड़ जाता है। संतुलन के बिगड़ते ही उत्पादन की दशा छिन्न-भिन्न होने लगती है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम सब एक ऐसी व्यवस्था निर्धारित करें और व्यवहार में लाएं जो उपरोक्त समस्याओं

को सुलझा सके। जीवन विज्ञान इन समस्याओं के समाधान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है क्योंकि जीवन विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा कर्मचारियों को तीनों प्रकार की स्वस्थता प्रदान की जा सकती है तथा उद्योगपतियों में संवेदनशीलता का जागरण किया जा सकता है। निम्नांकित बिंदुओं द्वारा हम जीवन विज्ञान की उपयोगिता को स्पष्ट कर सकते हैं।

2.7.2 उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

(i) कर्मचारी तथा कार्य– कार्य का सम्बंध उत्पादन तथा मशीन से होता है। अच्छे उत्पादन के लिए आवश्यकता है प्रत्येक कार्य को उचित व सुयोग्य कर्मचारी को दिया जाये या फिर जो मजदूर उद्योग में कार्यरत है, उनकी योग्यता बढ़ाई जाए। योग्य कर्मचारी की मांग की पूर्ति यदि कोई कर सकता है तो वह है– जीवन विज्ञान। जीवन विज्ञान केवल तकनीकी प्रशिक्षण नहीं है इसके छोटे–छोटे प्रयोगों के द्वारा मजदूर की शारीरिक, मानसिक क्षमताओं का विकास किया जा सकता है।

(ii) संवेदनशीलता– आज उद्योगपतियों के करुणा का स्रोत सूख रहा है, वे दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते। उद्योगपति और कर्मचारी के बीच प्रेमपूर्ण वातावरण नहीं हैं, जबकि यदि उद्योगपति का व्यवहार कर्मचारी को संतुष्ट रखे तो कर्मचारी मेहनत से अपने कार्य को निश्चित समय में पूरा करेंगे। आवश्यकता है निरीक्षक या उद्योगपति के व्यवहार में अपनेपन का जागरण हो। वे कर्मचारी की भौतिक और मानवीय आवश्यकताओं का ध्यान रखें। उद्योगपति में संवेदनशीलता का विकास हो। जीवन विज्ञान के द्वारा इसका विकास सम्भव हो सकता है।

(iii) स्वभाव–परिष्कार– मालिक और मजदूर के बीच सौहार्दपूर्ण व्यवहार रहना चाहिए। मालिक केवल स्व–लाभ की बात न सोचे और लालच के वशीभूत होकर कर्मचारी की मांग को न ठुकराए और न शोषण करें। मजदूर भी मालिक के समक्ष विनम्रता से पेश आएं, इसके लिए आवश्यक है दोनों के स्वभाव में परिवर्तन हो। जीवन विज्ञान स्वभाव परिवर्तन का अचूक उपाय है।

(iv) कर्मचारी–कर्मचारी संबंध– आज समस्या इस बात की है कि न केवल उद्योगपति और मजदूर के बीच कटु संबंध है अपितु कर्मचारी–कर्मचारी भी कुछ स्वार्थों के कारण लड़ते–झगड़ते, कलह करते रहते हैं। स्वयं को अच्छा दिखाने के लिए दूसरे की निंदा या गलतियां निकालने में विश्वास रखते हैं। इस व्यवहार से शक्ति का अनावश्यक अपव्यय होता है। आवश्यकता है मजदूर–मजदूर में भी भाईचारा बढ़े, सौहार्द बढ़े। जीवन विज्ञान के प्रयोग इसके लिए उपयोगी हो सकते हैं।

(v) स्वास्थ्य– स्वास्थ्य आज की बहुत बड़ी समस्या है। अधिक मेहनत करने के कारण कर्मचारी का स्वास्थ्य गिर जाता है, अत: उद्योगपति को चाहिए कि वह अपने मजदूरों के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखे और उनका उत्साहवर्धन भी करें। यदि कर्मचारी का स्वास्थ्य ही ठीक नहीं रहेगा तो वह ठीक से कार्य भी नहीं कर पाएगा। यदि मालिक मैत्रीपूर्ण व्यवहार करें तो यह एक टॉनिक के रूप में कार्य कर सकता है और इससे कर्मचारी की शक्ति का भी बचाव हो सकता है और कर्मचारी कुशलतापूर्वक कार्य भी कर सकते हैं। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए जीवन विज्ञान के प्रयोग सफल हो सकते हैं।

बोध प्रश्न–2

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

(1) चिकित्सा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान किस तरह उपयोगी है?

(2) स्वस्थ समाज किसे कहते हैं एवं जीवन विज्ञान द्वारा स्वस्थ समाज का निर्माण कैसे सम्भव है? अपने विचार प्रस्तुत करें।

(3) उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता को स्पष्ट करें।

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक वाक्य में दें —

(1) कर्मचारी के लिये सबसे बड़ा टॉनिक क्या है?

(2) समस्याओं का मुख्य कारण क्या है?

(3) जीवन विज्ञान द्वारा कौन–कौन से सामाजिक मूल्यों की प्राप्ति होती है?

(4) उत्पादन का स्तर गिरने के दो कारण बतायें।

(5) आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में बीमारी का मूल कारण क्या है?

(6) अन्तर्दृष्टि को जागृत करने वाले केन्द्र का नाम क्या है?

इकाई-3 (क) अनेकान्त और उसके आधारभूत तत्त्व

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 अनेकान्त का स्वरूप
3.2.1 अर्थ एवं परिभाषाएँ
3.3 अनेकान्त के आधारभूत तत्त्व
3.3.1 सत्प्रतिपक्ष
3.3.2 सह-अस्तित्व
3.3.3 सापेक्षता
3.3.4 स्वतन्त्रता
3.3.5 समन्वय
3.4 अनेकान्त और अहिंसा

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम अनेकान्त के संदर्भ में सत्-प्रतिपक्ष, सह-अस्तित्व, स्वतन्त्रता, सापेक्षता एवं समन्वय पर चर्चा करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप—

- जीवन और जीवन की समस्याओं को समझ सकेंगे।
- अनेकान्त को जान सकेंगे।
- अनेकान्त का अहिंसा के साथ क्या संबंध है? जान पाएंगे।
- सत्-प्रतिपक्ष के सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- समाज के साथ समन्वय स्थापित कर सकेंगे।
- अस्तित्व की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हुए व्यवहार जगत् की सापेक्षता को समझ पाएंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। इसका एक सुदृढ़ आधार स्तम्भ है— अनेकान्त। अनेकान्त हमारे विचारों की शुद्धि करता है। मैं सोचता हूं, वही सत्य है-यह आग्रह व्यक्ति को सफलता से वंचित कर देता है। सफल वही होता है जो हर विचार में छिपी सच्चाई को ग्रहण करता है। अपने चिन्तन को ही सर्वेसर्वा न मानकर अन्य विचारों का भी सम्मान करता है। हम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करें या आचार मीमांसीय दृष्टि से, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में देखें या सामाजिक संदर्भों में, अनेकान्त की उपादेयता सर्वत्र परिलक्षित होती है। वस्तुतः मनुष्य का जीवन समस्याओं का पुंज है। इन समस्याओं को हम दो भागो में विभाजित कर सकते हैं— आंतरिक और बाह्य। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ आन्तरिक समस्याएं होती हैं। आन्तरिक समस्याएँ संवेगों से संबंधित हैं। मनुष्य का जीवन संवेगों से प्रभावित होता है। हर क्षण अच्छे और बुरे संवेग उसे प्रभावित करते रहते हैं। क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, अहंकार, लोभ ये सारे संवेग व्यक्ति के सामने समस्या बनकर आते रहते हैं और व्यक्ति तनावग्रस्त हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ बाह्य समस्याएं होती हैं। बाह्य समस्याएं व्यक्ति के समाज, परिवार और पर्यावरण से सम्बंधित हैं जो व्यक्ति को समय-समय पर प्रभावित करती रहती हैं। प्रतिस्पर्द्धा, आग्रह, जाति-भेद, अर्थ का अभाव, पर्यावरण की समस्या, रीति-रिवाज, परिवार की समस्या आदि अनेक ऐसी समस्याएं हैं जो व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। इन समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए हमें समस्याओं के मूल कारणों पर विचार करना होगा। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन की विभिन्न समस्याओं के मूल में है— एकान्त दृष्टिकोण। एकान्तदृष्टि से सोचने और उसी को समग्र सत्य मान लेने से जीवन में अनेक समस्याएं पैदा हो जाती

हैं। जब व्यक्ति अनेकांत दृष्टिकोण से सोचने लगता है तब सारी समस्याएं अपने आप समाहित होने लगती हैं। अतः जीवन विज्ञान की प्रविधि में अनेकान्त को प्रथम स्थान पर रखा गया है। इस इकाई में हम अनेकान्त क्या है? अनेकान्त के ऐसे कौन-से आधारभूत तत्त्व हैं जो जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहयोगी बन सकते हैं, समझ सकेंगे।

3.2 अनेकान्त का स्वरूप

अनेकांत जीवन की एक प्रशस्त प्रद्धति है। इस पद्धति का प्रारम्भ होता है दृष्टिकोण परिवर्तन के साथ। जब तक दृष्टि सम्यक् नहीं होती तब तक हमारी धारणाएं सूक्ष्म और स्थूल दोनों जगत् के प्रति स्पष्ट नहीं होती। सम्यक् ज्ञान के अभाव में सही निर्णय ले पाना तथा समस्याओं से बच पाना संभव नहीं होता। जिसके जीवन में अनेकान्त दृष्टि होती है, उसके जीवन में समता का भाव आ जाता है। दृष्टि सम्यक् हो जाती है। महाकवि कालिदास ने कहा है—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो॥
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

(संसारावस्था में) एकान्त रूप से किसे सुख की प्राप्ति हुई अथवा एकान्तिक रूप से किसे दुःख की प्राप्ति हुई है? सुख और दुःख की अवस्था चक्र के आरे के समान ऊपर-नीचे होती रहती है।

तात्पर्य यह है कि सुख और दुःख दोनों सापेक्ष हैं जो इनकी सापेक्षता को समझ लेता है, वह सुख की स्थिति आने पर उसमें अत्यधिक लिप्त नहीं होता और दुःख की स्थिति में अत्यधिक घबराता नहीं। उसके जीवन में समता आ जाती है। हमारे जीवन में भी समता का अवतरण हो इसके लिए अनेकान्त की आंख चाहिए।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में "दृष्टिकोण के निर्माण का सबसे पहला उपाय है अनेकांत का जीवन में प्रयोग हो।"

3.2.1 अनेकान्त : अर्थ एवं परिभाषाएँ

अनेकान्त शब्द अनेक और अन्त दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ है—एक से अधिक दो, तीन, चार, पाँच, अनन्त तक तथा अन्त का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। अतः समष्टि रूप में अनेकान्त शब्द का अर्थ है अनन्त धर्मों वाला। अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मों वाला है। एक ही पदार्थ में अनन्त गुण विद्यमान हैं। कहा भी गया—"**अनन्तधर्मात्मकम् वस्तु**"**।** अनेकान्त को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें यह भी अच्छी तरह समझना होगा कि वस्तु अनन्त धर्मों वाली तो है परन्तु साथ ही साथ यह धर्म विरोधी और अविरोधी दोनों हो सकते हैं।

अनेकान्त को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में कहा गया—"**एकत्र वस्तुनि विरोध्यविरोधिनामनेक धर्माणां स्वीकारः अनेकान्तः।**" एक ही वस्तु में विरोधी और अविरोधी अनेक धर्मों को अर्थात् गुणों को स्वीकार करना अनेकान्त है।

वस्तुतः काला, मोटा, पतला, संकड़ा, मीठा आदि अनेक गुण एक ही पदार्थ में विद्यमान है। जैसे—एक ही अग्नि लकड़ी को जलाकर भष्म करती है, सोने को गलाकर शुद्ध करती है, रोटी को पकाती है, दाल को गलाती है, जल को भाप बनाती है, अशुद्ध धातुपत्रों को शुद्ध करती है, शीत को दूर करती है, प्रकाश प्रदान करती है इत्यादि अनन्त अविरोधी विशेषाताएँ अग्नि में एक साथ विद्यमान हैं। पानी किसी प्यासे मनुष्य की प्यास बुझाकर उसे जीवन देता है और किसी प्यासे (हैजे के रोगी) की प्यास बुझाकर मार देता है। स्वस्थ व्यक्ति को स्नान के रूप में स्फूर्ति प्रदान करता है, गृहिणी के लिए सफाई के काम आता है। इस प्रकार प्यास बुझाना, स्फूर्ति प्रदान करना, सफाई के काम आना आदि अनेक अविरोधी विशेषताएं जल में विद्यमान हैं।

ठीक इसी प्रकार से अनन्त विरोधी धर्म भी एक ही पदार्थ में विद्यमान हैं। अनेकान्त के अनुसार वस्तु केवल अनन्त विशेषताओं वाला ही नहीं है अपितु वह अनन्त विरोधी विशेषताओं का आश्रय स्थल है। जैसेः एक लड़की किसी के लिए मां, किसी के लिए बेटी, किसी के लिए चाची, किसी के लिए भतीजी, किसी के लिए बुआ और किसी के लिए बहिन है। यद्यपि मां, बेटी, बहन, बुआ, भतीजी आदि सभी विरोधी गुण हैं, जो मां है वह बेटी कैसे हो सकती है? परन्तु यथार्थ में ऐसा होता है। दोनों विरोधी गुण एक ही व्यक्ति में पाए जाते हैं, इसे स्वीकार करना ही अनेकान्त है।

अनेकान्त के इस कथन को हम एक दूसरे उदाहरण से भी समझ सकते हैं। बहुत बार व्यवहार जगत् में देखा जाता है एक पुत्र

अपने पिता के लिए उद्दण्ड होता है, पिता उसे अच्छा नहीं मानता क्योंकि वह पिता की बात को स्वीकार नहीं करता, पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता। वही पुत्र माता का आज्ञाकारी होता है अतः माता के लिए वह पुत्र विनम्र होता है।

उद्दण्डता और विनम्रता दोनों विरोधी गुण हैं परन्तु एक साथ एक ही व्यक्ति में विद्यमान हैं। इसी प्रकार से एक ही पदार्थ में अनन्त विरोधी और अविरोधी गुण विद्यमान है। इस सत्य को स्वीकार करना और ऐसा दृष्टिकोण अपने व्यवहार में अपनाना ही अनेकान्त है।

3.3 अनेकान्त के आधारभूत तत्त्व

अनेकान्त के आधारभूत तत्त्व पांच हैं— 1. सत् प्रतिपक्ष, 2. सह-अस्तित्व, 3. सापेक्षता, 4. स्वतन्त्रता, 5. समन्वय

3.3.1 सत्-प्रतिपक्ष

अनेकान्त के पाँच सिद्धान्त हैं। उनमें सबसे प्रथम सिद्धान्त है- सत् प्रतिपक्ष। बोलचाल की भाषा में समझा जाए तो दिन के लिए रात, सफेद के लिए काला, लम्बे के लिए चौड़ा, मोटे के लिए पतला प्रतिपक्षी है। जैन तार्किकों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा—जो सत् है अर्थात् जिसका इस लोक में अस्तित्व है वह प्रतिपक्ष युक्त है। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसका प्रतिपक्ष न हो। जैनागम स्थानांग में उदाहरण देते हुए कुछ प्रतिपक्षों का नाम दिया गया—

जीव-अजीव	त्रस-स्थावर	आयु सहित-आयु रहित
रूप सहित-रूप रहित	इन्द्रिय सहित - इन्द्रिय रहित	शाश्वत - अशाश्वत
धर्म - अधर्म	बंध - मोक्ष	पुण्य - पाप
शुद्ध - अशुद्ध	मूर्त - अमूर्त	नित्य - अनित्य
एक - अनेक		

समूची प्रकृति में, समूची व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है, यथा—ज्ञान-अज्ञान, दर्शन-अदर्शन, सुख-दुःख, मूर्च्छा-जागरण, जीवन-मृत्यु, शुभ-अशुभ, ऊंचा-नीचा आदि।

हमारा पूरा शरीर विरोधी युगलों का भण्डार है। शरीर में दो केन्द्र हैं—ज्ञान केन्द्र और काम केन्द्र । दोनों विरोधी हैं। काम केन्द्र चेतना को नीचे ले जाता है तो ज्ञान केन्द्र चेतना को ऊपर ले जाता है।

विज्ञान की भाषा में इन्हीं दो केन्द्रों के वाचक दो ग्लैण्डस है— पिनियल, पिच्यूटरी और गोनाड्स। पिनियल और पिच्यूटरी - ये दोनों ज्ञान के विकास की ग्रन्थियां है। गोनाड्स - यह काम-विकास की ग्रन्थि है। हमारी चेतना का विकास पिनियल और पिच्यूटरी के विकास पर निर्भर है तथा चेतना का ह्रास गोनाड्स पर निर्भर है।

विद्युत में पॉजिटिव और नेगेटिव - दोनों प्रकार के आवेश हैं। शरीर की रचना, प्रकृति की रचना, परमाणु की रचना हो या विद्युत की रचना सबमें विरोधी तत्त्व काम कर रहे हैं।

आज का विज्ञान कहता है- यूनिवर्स है तो एण्टी यूनिवर्स भी है। कण है तो प्रतिकण भी है। अणु है तो प्रतिअणु भी है। पदार्थ है तो प्रतिपदार्थ भी है। जगत् है तो प्रतिजगत् भी है। मेटर है तो एन्टी-मेटर भी है।

वस्तुतः प्रतिपक्ष एक यथार्थ है। वस्तु जगत् की सच्चाई है। इसे स्वीकार करना ही अनेकान्त है। चूंकि अनेकान्त का मूल आधार है- विरोधी धर्मों के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति।

अनेकान्त कहता है- पदार्थ को एक दृष्टि से मत देखो। पदार्थ को अस्तित्व की दृष्टि से देखते हो तो नास्तित्व की दृष्टि से भी देखो। अतः जहां पक्ष है वहां प्रतिपक्ष भी होगा। इस सत्य को स्वीकार करना ही अनेकान्त का प्रथम उद्देश्य है।

3.3.2 सह-अस्तित्व

अनेकान्त का दूसरा सिद्धान्त है—सह-अस्तित्व। अनेकान्त का प्रथम सिद्धान्त सत्-प्रतिपक्ष हमें सिखाता है कि इस जगत् में पक्ष के साथ प्रतिपक्ष का भी अस्तित्व है। जहां पक्ष है वहां प्रतिपक्ष भी निश्चित रूप से है। जबकि अनेकान्त का दूसरा सिद्धान्त हमें बतलाता

है कि पक्ष और प्रतिपक्ष एक दूसरे से विरोधी, एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न होते हुए भी दोनों एक साथ रह सकते हैं।

सामान्यतया हम यह सोचते हैं कि जीना और मरना दो विरोधी तत्व हैं किन्तु ध्यान से देखा जाए तो दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिस क्षण में आदमी जीता है, उसी क्षण में मरता भी है। हमारे शरीर में खरबों कोशिकाएं हैं। प्रति सैकेण्ड पांच करोड़ कोशिकाएं नष्ट होती हैं और पांच करोड़ कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं। जन्म लेना और मरना, पैदा होना और नष्ट होना, दोनों एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी एक साथ रह सकते हैं। दोनों का सह-अस्तित्व बना रहता है।

चेतन-अचेतन, सुख-दु:ख, शुभ-अशुभ, अमीर-गरीब, लोक-अलोक, दिन-रात, लम्बा-छोटा, मोटा-पतला, उपयोगी-अनुपयोगी, खुशी-गम संसार में जितने भी विरोधी युगल हैं, वे एक साथ एक ही पदार्थ में रह सकते हैं और रहते हैं।

सह-अस्तित्व एक प्राकृतिक नियम है। दुनियां की कोई भी वस्तु इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। जैन चिन्तकों ने इन विरोधी धर्मों की सह-अवस्थिति को एक उदाहरण से समझाया—

घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक प्रमोद माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥

अर्थात् एक स्वर्णकार स्वर्णकलश को तोड़कर स्वर्ण मुकुट बना रहा था। उसके पास तीन ग्राहक आए। एक को स्वर्णकलश चाहिए था, दूसरे को स्वर्णमुकुट और तीसरे को केवल स्वर्ण चाहिए था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दु:ख हुआ, दूसरे को हर्ष हुआ और तीसरा मध्यस्थ भाव में रहा क्योंकि एक ही स्वर्ण में पहला व्यक्ति विनाश देख रहा था, दूसरा व्यक्ति उत्पाद देख रहा था और तीसरा व्यक्ति ध्रौव्य (स्थिरता) देख रहा था। तात्पर्य यह हुआ कि उत्पाद (उत्पन्न होना), व्यय (नष्ट होना) और ध्रौव्य (स्थिर रहना)— तीनों परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले गुण एक साथ रह रहे हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि जैसे विरोधी युगलों का होना प्राकृतिक है, नैसर्गिक है, इसके लिए हमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता ठीक वैसे ही इनका एक साथ रहना भी स्वाभाविक है परन्तु बहुत बार जब हमारे जीवन में विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी आदतों वाला व्यक्ति या परिस्थितियां सामने आती हैं तो हम विचलित हो जाते हैं, हम सोचने लगते हैं कि इन परिस्थितियों में या उन व्यक्तियों के साथ मैं नहीं रह सकता जबकि अनेकान्त का दूसरा सिद्धान्त हमें सिखाता है कि दो विरोधी तत्व एक साथ रह सकते हैं जब हम यह समझ लें कि दो विचारों, स्वभावों, आदतों या रुचियों में विरोध होना स्वाभाविक है, प्राकृतिक है, नैसर्गिक है।

यह सच्चाई है कि प्रत्येक व्यक्ति, जन्मा हुआ छोटा सा बच्चा भी चाहता है कि वह जैसा बोलता है सब वैसे ही बोलें। वह जैसे चलता है, सब वैसे ही चलें। वह जैसे कपड़े पहनता है सब वैसे ही कपड़े पहनें। जैसा आचरण वह करता है सब वैसा ही करें। यही भावना संघर्ष और लड़ाईयों को जन्म देती है।

यदि संघर्ष और लड़ाइयों को समाप्त करना है, शांतिपूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करना है तो प्रत्येक व्यक्ति को विचार, रुचि, स्वभाव एवं आदतों की भिन्नता को स्वीकार करना होगा तथा विविधता होते हुए भी यह विरोधी तत्त्व एक साथ रह सकते हैं, इस सच्चाई को स्वीकार करना होगा। अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं और उनका सह-अस्तित्व होता है। यदि विरोधी धर्म न हो तो वस्तु का अस्तित्व भी नहीं हो सकता। चेतन का अस्तित्व तब है जब अचेतन का है, अचेतन का अस्तित्व तब है जब चेतन का है अत: हम व्यवहार जगत् में इस सिद्धान्त को अपनाएँ।

3.3.3 सापेक्षता

अनेकान्त के प्रथम सिद्धान्त से हमने जाना कि जहां पक्ष है, वहां प्रतिपक्ष अवश्य होगा। प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। दूसरे सिद्धान्त ने इस बात को स्पष्ट किया कि पक्ष और प्रतिपक्ष एक पदार्थ में एक साथ रह सकते हैं। अनेकान्त का तीसरा सिद्धान्त है— सापेक्षता। जिसका अर्थ है— अपेक्षा सहित होना। इस सिद्धान्त के अनुसार पक्ष और प्रतिपक्ष एक साथ रह सकते हैं परन्तु निरपेक्ष रूप से नहीं सापेक्षता से रह सकते हैं।

सर्दी-गर्मी, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, सुख-दु:ख आदि अनेक विरोधी युगल हैं और यह सब एक साथ एक ही पदार्थ में रहते हैं। सर्दी के बाद गर्मी और गर्मी के बाद सर्दी का होना, प्रकाश के बाद अंधकार और अंधकार के बाद प्रकाश, दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का होना एक अलग बात है। अनेकान्त की दृष्टि में प्रकाश और अन्धकार, दिन और रात दोनों साथ-साथ चलते

हैं। व्यक्ति कमरे में पढ़ने बैठता है, मन्द प्रकाश को देखकर पढ़ने वाला कहेगा— यहां अंधेरा है परन्तु उसी समय कमरे में स्थित सारे स्थूल पदार्थ दिखने पर पदार्थ को देखने वाला कहेगा- यहां प्रकाश है। भारत भूमि पर जिस समय दिन होता है उस समय अमेरिका में रात का समय होता है। अत: निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार आदि विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व है, एक साथ रह सकते हैं परन्तु सापेक्षता से। यहां दिन और रात क्षेत्र सापेक्ष हैं।

वस्तुत: हमारी भाषा सीमित है। सत्य असीम है अत: उस असीम सत्य को सीमित भाषा में नहीं बांधा जा सकता। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, कलाकार है, चित्रकार है, संगीतकार है और भी बहुत कुछ हो सकता है परन्तु कविता गोष्ठी में उसका कवि रूप सामने आता है पर उसकी दूसरी विशेषताएँ समाप्त नहीं हो जाती। उसके लिए कोई यह कहे कि वह कवि ही है, अन्य कुछ नहीं तो इस कथन में सत्यता नहीं रहती। सापेक्षता को समझने वाला जान जाएगा कि यह एक अपेक्षा से कवि है किन्तु अन्य अपेक्षाओं से वह वक्ता, लेखक आदि भी है। बस कथन करते समय भाषा की सीमितता के कारण एक गुण मुख्य और शेष सारे गौण हो जाते हैं।

अत: किसी भी सत्य को भाषा देने के लिए सापेक्षता को स्वीकार करना होगा। सापेक्षता बहुत बड़ा समाधान है। जब सापेक्षता को भूला दिया जाता है तब संघर्ष पैदा होता है। संघर्ष का बहुत बड़ा कारण है— एकांकी दृष्टिकोण। व्यक्ति जब सापेक्षता को नहीं समझता तब दूसरों पर गलत होने का, गलत निर्णय करने का, असत्य संभाषण, गलत चिन्तन आदि अनेक आरोप लगाता रहता है। मालिक दुकान से थका मांदा लौटा। नौकर से कहा ठण्डा-ठण्डा पानी ले आओ बहुत जोर की प्यास लगी है। नौकर गया, सबसे ठण्डे घड़े से गिलास भरकर पानी ले आया। मालिक ने ज्योंही गिलास हाथ में ली जोर से झिल्लाया इतना गरम पानी, जाओ फ्रीज से एकदम ठण्डा पानी लाओ। थोड़ी देर में मालकिन आई और बोली— रामू एक गिलास पानी पिला दे। ठण्डा पानी मत लाना दांतों में दर्द है। बेचारे नौकर ने सोचा, मालकिन को फ्रीज का पानी नहीं चाहिए। मटके का पानी ले आया। ज्योंही मालकिन को दिया, मालकिन गुस्सा हो गई बोली कहा था ना ठण्डा पानी मत लाना। दाँतों में दर्द है, बाल्टी का पानी ले आओ। बेचारे नौकर का सिर घूम गया। एक ही घड़े का पानी एक कहता है— गरम है, एक कहता है ज्यादा ठण्डा है, किसकी बात पर विश्वास करें?

विद्यार्थियों! यही सापेक्षता है। जब तक परिस्थितियों को सापेक्षता की दृष्टि से नहीं देखा जाता, नहीं समझा जाता, तब तक समस्या के घेरे में हम घिरे रहते हैं या बहुत बार व्यवहार जगत् में बहुत-सी बातों को लेकर उलझन पैदा हो जाती है। हमें हर परिस्थिति को सापेक्ष दृष्टि से समझना होगा। एक व्यक्ति के लिए मटके का पानी फ्रीज की अपेक्षा से गरम हो सकता है, वहीं एक दाँत दर्द के रोगी के लिए जिसे सामान्य पानी की अपेक्षा है, उसके लिए मटके का पानी भी ठण्डा हो सकता है।

बहुत बार गर्मी के दिनों में सघन हवा भी कम लगती है और सर्दी के मौसम में थोड़े-से छिद्र से प्रवेश करने वाली हवा भी कम्पन पैदा कर देती है। अत: यह कहा जा सकता है कि हमारी सम्पूर्ण क्रियाएँ, सम्पूर्ण माँग और आवश्यकताएँ सापेक्ष हैं। व्यवहार जगत् के सम्यक् परिचालन के लिए इसे समझना बहुत जरूरी है, अन्यथा कलह की संभावना हो जाती है। अपेक्षा है हम किसी भी घटना, क्रिया पर सापेक्षता से चिन्तन करें।

3.3.4 स्वन्तंत्रता

अनेकान्त का चौथा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है— स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता का अंग्रेजी रूपान्तरण 'लिबर्टी' लेटिन भाषा के 'लिबर' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है बंधनों का न होना।

मानव जीवन का एक विशेष लक्षण है— स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए मानव ने बहुत कुछ सहन किया है। बहुत बार अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष किया है। चाहे इंग्लैण्डवासियों का स्टुअर्ट वंश की निरंकुशता के विरूद्ध विद्रोह हो, अमेरीकावासियों का जार्ज तृतीय के शासन के विरूद्ध संघर्ष हो या फ्रांसीसियों का लुई सोलहवें के विरूद्ध संघर्ष हो, इन सबके मूल में व्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना ही रही है। महान् प्राचीन ऋषि, मनीषी हो या वर्तमान के आधुनिक दार्शनिक सभी स्वतन्त्रता के पक्षधर हैं क्योंकि अस्तित्व की दृष्टि से सभी पदार्थ स्वतन्त्र है।

अनेकान्त के अनुसार भी चेतन, अचेतन सभी पदार्थ अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्र हैं। एक परमाणु का भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, उसमें दूसरा परमाणु हस्तक्षेप नहीं करता। कभी उस पर आक्रमण नहीं करता, कभी उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं

करता। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व में स्वतन्त्र है। आत्मा का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है। जहां अस्तित्व का प्रश्न है वहां सभी स्वतन्त्र हैं फिर हम एक दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप क्यों करें?

अनेकान्त के अनुसार हमें इस सत्य को स्वीकार करना होगा। जब हम इस सत्य को स्वीकार कर लेंगे तब हम दूसरे की जीवन शैली में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। किसी को चाय पसन्द हो सकती है और किसी को कॉफी। दोनों को अपनी-अपनी इच्छा पूरी करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जब हम दूसरे की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करेंगे तभी हम शान्त सहवास कर सकेंगे।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि हम एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करें तो प्रत्येक व्यक्ति मनमानी करने लगेगा। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, विचार, स्वभाव, मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और अगर वह उसे अपने ढ़ंग से पूरी करने लग जाए तो समाज का ढांचा ही बदल जाएगा। इस सन्दर्भ में हमें स्वतंत्रता और उच्छृंखलता या स्वच्छन्दता में भेद समझना होगा। मनुष्य जो चाहे कर ले, यह स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य के जिन कार्यों से दूसरे मनुष्य को हानि न पहुंचे, उन्हें कर सकने की स्वतन्त्रता ही उसे दी जा सकती है।

उदाहरण के लिए प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह स्कूटर, कार चला सके। जितनी तेज चाहे गाड़ी चला सके। यदि मनुष्य निर्जन पथ पर स्कूटर या कार तेज चलाता है तो इससे दूसरे मनुष्यों को हानि पहुंचने की सम्भावना नहीं है पर यदि वही मनुष्य भीड़ में सड़क पर तेज कार चलाने की इच्छा प्रकट करे तो उसकी यह चाह स्वीकार्य नहीं हो सकती। अत: सबके हित को दृष्टि में रखकर नियम बनाने पड़ते हैं। व्यवस्था को ध्यान में रखकर बनाए गये नियमों से मनुष्य की स्वतन्त्रता मर्यादित अवश्य होती है, पर ऐसा होना सबके लिए हितकर है। वस्तुत: सार्वजनिक मार्गो पर सवारी को तेजी के साथ दौड़ाने का अधिकार स्वतन्त्रता न होकर उच्छृंखलता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह अपनी वस्तु को जहाँ चाहे रखे, जहाँ चाहे फेंके। कोई भी व्यक्ति इससे इनकार नहीं कर सकता। किसी के मकान के सामने खाली जमीन पड़ी है, उसे अधिकार है कि वह अपने कूड़े को उस जमीन पर डालता जाए। पर यदि यही मकान किसी बस्ती में है, और उसके पड़ोस में अन्य भी मकान है तो यह सम्भव है कि एक आदमी के कूड़ा करकट डालने से दूसरों को परेशानी हो। अत: ऐसा नियम बनाना मनुष्यों के सामूहिक हित के लिए उपयोगी व आवश्यक होगा कि कोई व्यक्ति अपने मकान की गन्दगी को जहाँ चाह न फेंक सके। व्यवस्था करना या नियम बनाना इसी उद्देश्य से होता है कि मनुष्यों की उच्छृंखलता को रोका जाए, स्वतन्त्रता को नहीं।

विभिन्न विद्वानों के अनुसार—''मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्रता-प्रिय है, वह अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता को स्थापित रखना चाहता है पर समाज में रहने के कारण उसे अन्य लोगों की स्वतन्त्रता का भी ध्यान रखना पड़ता है। उसकी अपनी स्वतन्त्रता के कारण दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न आए इस दृष्टि से आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता को एक सीमा में रखा जाए।''

यही अनेकान्त का विचार है। अनेकान्त का चौथा सिद्धान्त 'स्वतन्त्रता' हमें यही बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्र है। सबकी पसन्द, इच्छा, चाह भिन्न-भिन्न है क्योंकि हमारे सचित्त संस्कार भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए हमें अपनी-अपनी इच्छा, रुचि की पूर्ति करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए परन्तु वही इच्छा जो दूसरों के हित में बाधा न पहुंचाए। यही स्वतन्त्रता व्यवहार जगत् में मान्य हो सकती है। अगर हम स्वतन्त्रता के सही अर्थ को समझ कर उपयोग करें तो व्यवहार जगत् की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

3.3.5 समन्वय

अनेकान्त का पाँचवा सिद्धान्त है- समन्वय। समन्वय के लिए अंग्रेजी में Co-ordination शब्द प्रयुक्त होता है। सरल शब्दों में परिभाषित किया जाए तो समन्वय शब्द का अर्थ है तालमेल बिठाना।

वस्तुत: जितने व्यक्ति हैं, उतने मानस हैं, जितने मानस हैं, उतनी रुचियां, उतने विचार हैं। कोई भी विचार पूर्ण रूप से सत्य नहीं होता। वह सत्यांश (सत्य का एक अंश) होता है। जब तक व्यक्ति इस सत्य को नहीं समझता तब तक वह अपने विचार को सत्य मानता है और दूसरे के विचारों को असत्य मानता है। यह एकांगी विचार परिवार, समाज या राष्ट्र के लिए संघर्ष, विग्रह पैदा करता है।

संघर्ष, युद्ध, तनाव और द्वन्द्व से दूर रहने के लिए आवश्यक है— समन्वय। जो दो भिन्न विचारों में समन्वय करना जानता है, वह मैं ही सत्य हूं इस भाषा को छोड़ देता है और 'मैं भी सत्य हूँ, वह भी सत्य हो सकता है' की भाषा में सोचने लगता है। एक बार पांच अंधों ने हाथी को जानना चाहा। पहले अन्धे ने हाथी के पैरों को पकड़ा और कहा— हाथी खम्भे जैसा होता है। दूसरे अन्धे ने हाथी की

पूंछ को पकड़ा और कहा— हाथी खम्भे जैसा नहीं अपितु रस्सी जैसा होता है। तीसरे ने हाथी के मध्य भाग को छूआ और कहा— हाथी तो दीवार जैसा होता है। चौथे ने उसकी सूंड को पकड़ा और कहा— हाथी तो पेड़ की शाखा जैसा होता है। पाँचवे ने हाथी के कान को पकड़ा और कहा— हाथी न खम्भे जैसा होता है, न दीवार जैसा, अपितु वह तो छाज जैसा होता है। पांचों अपनी-अपनी बात को सत्य साबित करने का आग्रह करने लगे। विवाद बढ़ गया। एक बुद्धिमान व्यक्ति ने उनके बीच समन्वय स्थापित करवाकर उस विवाद को समाप्त किया। उसने कहा— आप सभी हाथी के एक अंश को जानकर उसे पूर्ण हाथी समझ रहे हैं, यह ठीक नहीं है। आपने अलग-अलग जो जाना है, उसका समन्वय करके ही आप हाथी के सही रूप को समझ सकते हैं। सत्य की खोज का मार्ग है— समन्वय। दूसरे शब्दों में कहें तो अनाग्रह। अनाग्रही मनुष्य ही दो भिन्न विचारों में समन्वय स्थापित कर सकता है।

आज एक राजनेता दूसरे राजनेता को गलत साबित करने की कोशिश में लगा रहता है। एक धार्मिक दूसरे धर्म की निन्दा करता है, उसे गलत साबित करने का प्रयास करता है। यह आग्रह है। दूसरे शब्द में कहें तो मिथ्या अभिमान है। अपने विचारों की पकड़ करना है।

हमें अनाग्रह की भाषा में सोचना होगा। मैं जो करता हूं, मैं जिसे मानता हूं, जिसे स्वीकार करता हूं, केवल सत्य उतना ही नहीं हैं। यह सत्यांश हो सकता है परन्तु समग्र सत्य नहीं। दूसरा जिसे मानता है, जिसे स्वीकार करता है, उसमें भी सत्य हो सकता है। इस प्रकार दो भिन्न विचारों में तालमेल बैठाना ही समन्वय है।

अनेकान्त के इन पांच महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को जानने के पश्चात् कहा जा सकता है कि अनेकान्त एक विशाल दृष्टिकोण है जो किसी भी परिवार समाज व राष्ट्र की समस्याओं के समाधान की क्षमता रखता है। बशर्ते की इसका व्यवहार जगत् में प्रयोग किया जाए।

3.4 अनेकान्त और अहिंसा

अब हमें अनेकान्त को अहिंसा के सन्दर्भ में समझना है, प्रश्न हो सकता है अनेकान्त की चर्चा करते समय अहिंसा की क्या प्रासंगिकता? यह सही है कि अब तक हमने अनेकान्त को समझा। आगे चलकर अहिंसा का भी विस्तृत विवेचन करेंगें परन्तु इससे पूर्व हमें अनेकान्त को अहिंसा के सन्दर्भ में समझना भी जरूरी है क्योंकि अनेकान्त और अहिंसा किसी अर्थ में एक दूसरे से अभिन्न है।

हिंसा का मूल कारण है— एकांगी दृष्टिकोण। एकांगीदृष्टि का कारण है मनुष्य मनुष्य के बीच पाए जाने वाले विभिन्न भेद। मनुष्य मनुष्य में अनेक प्रकार के भेद पाए जाते हैं— मान्यता भेद, विचार भेद, रुचि भेद, स्वभाव भेद, संवेग-भेद। ये पांचों भेद दो व्यक्तियों के बीच दरार पैदा करते हैं। परिणामस्वरूप हिंसात्मक वातावरण का निर्माण होता है।

1. मान्यता भेद - आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में इस मान्यता के आधार पर अनेक सम्प्रदाय बने हैं। आज जितने भी सम्प्रदाय हैं, उनके अपने-अपने सिद्धान्त, अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं। सभी अपनी मान्यताओं को सही समझते हैं। परिणामस्वरूप दूसरे की मान्यता एवं सिद्धान्तों की अवहेलना की जाती है। इस एकांगी चिन्तन के कारण विभिन्न सम्प्रदायों में कलह, वैमनस्य का वातावरण तैयार होता है और धीरे-धीरे यही वातावरण हिंसात्मक कार्यों का रूप ले लेता है। मान्यताओं में भेद होना एक बात है और अपनी मान्यताओं को लेकर एकांगी आग्रह होना अलग बात है, हिंसा को निमंत्रण है।

2. विचार भेद - प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व स्वतन्त्र है। प्रत्येक के मस्तिष्क में कार्य करने वाले न्यूरोट्रांसमीटरस् में भिन्नता है। शायद इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की चिन्तनशैली भिन्न है। आज तक यही देखा गया है कि कोई भी दो व्यक्ति एक जैसा नहीं सोचते। एक जैसा कार्य नहीं करते या नहीं कर सकते। सबके विचारों की पद्धति भिन्न है। चूँकि मनुष्य यन्त्र नहीं है, उसमें सोचने समझने की क्षमता है इसलिए वह किसी भी कार्य के विषय में अपने विचार रखता है। अपना चिन्तन रखता है। चाहे जुड़वा भाई भी क्यों न हो, विचारों में भेद पाया जाता है। विचारों में भेद होना बुरा नहीं है। अपने विचारों को पूर्ण सत्य मानना, अपने विचारों का आग्रह करना समस्या का कारण है, हिंसा को निमन्त्रण है।

3. रुचि भेद - न केवल विचार अपितु रुचि भी प्रत्येक मनुष्य की भिन्न-भिन्न होती है। किसी को दूध पसन्द है तो किसी को चाय। किसी को सर्ट पसन्द है तो किसी को साड़ी। सभी की अपनी-अपनी रुचि है। एक ही वस्तु किसी मनुष्य के लिए सुख के संवेदन का हेतु बनती है तो वही वस्तु किसी के लिए दुःख के संवेदन का हेतु बन जाती है क्योंकि रुचि की भिन्नता है। रुचि की भिन्नता भी बहुत बार कलह का कारण बन जाती है।

4. स्वभाव भेद- जितने मनुष्य, उतने ही स्वभाव हैं। न केवल मनुष्य अपितु संसार में जितने भी प्राणी हैं, सबका अपना-अपना स्वभाव होता है। पानी का भी अपना स्वभाव है, अग्नि का भी अपना स्वभाव है। कोई क्रोधी है, कोई शान्त है, कोई झूठा है, कोई मायावी है। सबका अपना-अपना स्वभाव है। यह स्वभाव की भिन्नता मनुष्यों के बीच टकराव पैदा करती है। संवेगों को उत्तेजित कर हिंसा को निमन्त्रण देती है।

5. संवेग भेद- संवेग जिसे अंग्रेजी में Emotion कहा जाता है, मनुष्य के भीतर विद्यमान भावों का प्रकटीकरण ही है। यह संवेग भी मनुष्यों में समान नहीं होते। इनमें भी तारतम्य होता है।

(क) मृदु— अल्प मात्रा वाला संवेग।

(ख) मध्य — मध्य मात्रा वाला संवेग।

(ग) तीव्र — अधिक मात्रा वाला संवेग।

मृदु संवेग वाला व्यक्ति शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करता है। वह तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेता। मध्य संवेग वाला व्यक्ति कलह, उपद्रव, तोड़-फोड़ आदि में प्रवृत्त होता है और इनसे भी आगे तीव्र संवेग वाला व्यक्ति आत्महत्या, परहत्या जैसे हिंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार संवेग जितना प्रबल होता है, उतना ही प्रबल होता है एकांगी आग्रह। एकांगी आग्रह हिंसा का मुख्य कारण है। हिंसा का अर्थ केवल शस्त्रीकरण या युद्ध ही नहीं है। पारिवारिक कलह, मानवीय संबंधों में कटुता, जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक संघर्ष, क्षेत्रीय संघर्ष, या तुम या मैं की मनोवृत्ति— ये सब हिंसा के प्रारम्भिक रूप हैं।

इन सभी प्रकार के हिंसात्मक कार्यों से मुक्ति पाने के लिए एकांगी दृष्टिकोण को बदलना जरूरी है। एकांगी आग्रह को कम करने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है— अनेकान्त।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के शब्दों में अनेकान्त और अहिंसा दो नहीं है। यदि जीवन में अनेकान्त नहीं है तो अहिंसा का विकास भी सम्भव नहीं।

अहिंसक चेतना के जागरण के लिए आवश्यक है— अनेकांतिक दृष्टिकोण। जब व्यक्ति संसार को अनेकांत की आंख से देखता है तब जीवन में स्वत: ही अहिंसा का विकास हो जाता है। अनेकान्त के पांच सूत्र सप्रतिपक्ष, सहअस्तित्व, समन्वय, स्वतन्त्रता, सापेक्षता व्यक्ति को एकांगी आग्रह से दूर रखते हैं। एकांगी आग्रह से मुक्ति ही अहिंसा है।

बोध प्रश्न-1

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

(1) एक ही व्यक्ति उद्दण्ड और विनम्र दोनों हो सकता है, सिद्ध करें।

(2) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त जीवन के लिए कैसे उपयोगी है, व्यावहारिक उदाहरणों से समझाइये।

(3) जीवन में सापेक्षता का व्यावहारिक प्रयोग अनेक समस्याओं का समाधान है, सिद्ध कीजिये।

(4) 'हिंसा का मुख्य कारण है एकांगी आग्रह' कैसे समझाइये?

इकाई-3 (ख) अनेकांत के व्यावहारिक प्रयोग

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 परिवार में अनेकान्त

- 3.2.1 परिवार : अर्थ
- 3.2.2 पारिवारिक समस्याएं
- 3.2.3 परिवार में अनेकान्त की उपयोगिता

3.3 समाज में अनेकान्त

- 3.3.1 समाज : अर्थ
- 3.3.2 सामाजिक समस्याएं
- 3.3.3 समाज में अनेकान्त की उपयोगिता

3.4 अर्थशास्त्र में अनेकान्त

- 3.4.1 अर्थनीति : अर्थ
- 3.4.2 अर्थनीति की समस्याएं
- 3.4.3 अर्थशास्त्र में अनेकान्त की उपयोगिता

3.5 राजनीति में अनेकान्त

- 3.5.1 राजनीति : अर्थ
- 3.5.2 राजनैतिक समस्याएँ
- 3.5.3 राजनीति में अनेकान्त की उपयोगिता

3.6 विश्वशांति में अनेकान्त

- 3.6.1 विश्वशांति : अर्थ
- 3.6.2 विश्व-अशांति के कारण
- 3.6.3 विश्वशांति में अनेकान्त की उपयोगिता

3.7 लोकतन्त्र में अनेकान्त

- 3.7.1 लोकतन्त्र : अर्थ
- 3.7.2 लोकतन्त्र की समस्याएं
- 3.7.3 लोकतन्त्र में अनेकान्त की उपयोगिता

3.0 उद्देश्य

'अनेकान्त के व्यावहारिक प्रयोग' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, लोकतांत्रिक समस्याओं को जान पायेंगे।
- इन समस्याओं का समाधान अनेकान्त से कैसे सम्भव है? समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है— अनेकान्त। अनेकान्त के पाँच सूत्रों का अध्ययन हमने इकाई तीन 'क' में किया। इस इकाई में जीवन के विविध क्षेत्र परिवार, समाज, अर्थनीति आदि में अनेकान्त का व्यावहारिक प्रयोग कर इन क्षेत्रों से संबंधित विभिन्न समस्याओं से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है, इसका विवेचन किया जा रहा है। एक व्यक्ति के जीवन में परिवार, समाज, अर्थ एवं राष्ट्र

का बहुत महत्त्व होता है। ये उसके विकास और ह्रास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अत: इन क्षेत्रों में पनपने वाली समस्याओं का निराकरण बहुत जरूरी है। इन समस्याओं के समाधान के बिना एक संतुलित जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए इस इकाई का मुख्य उद्देश्य जीवन में अनेकान्त का व्यावहारिक प्रयोग कैसे किया जाये, उसके उपाय सुझाना है।

3.2 परिवार में अनेकान्त

3.2.1 परिवार : अर्थ

परस्परता के सूत्र में बंधे हुए निकटस्थ व्यक्तियों का एक समुदाय है– परिवार। जिसका प्रत्येक सदस्य स्नेह, सहयोग और विश्वास के सूत्रों से जुड़ा रहता है। सामाजिक संरचना में जहां परिवार की केन्द्रीय स्थिति है, वहीं मानव समूह में परिवार आधारभूत इकाई है। वस्तुत: परिवार वह महत्त्वपूर्ण इकाई है, जिससे न केवल समाज का निर्माण होता है बल्कि मानव समाज का विस्तार भी इसी से होता है। मानव समाज चाहे जिस अवस्था में रहा हो, परिवार की मौजूदगी अनिवार्य रही है।

समाज का स्थायित्व परिवार की गतिशीलता पर टिका है तथा परिवार की निरंतरता ही समाज को अक्षुण्ण बनाए रखती है। जब कभी समाज में अस्थिरता आती है उसका प्रमुख कारण परिवारों में अस्थिरता होती है। परिवार जिसमें, माता-पिता और बच्चों के अतिरिक्त विवाह एवं रक्त संबंध होते हैं, जब कभी इनमें कड़वाहट आती है तो अशांति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

प्राचीन समय में संयुक्त परिवार होते थे जिनका विघटन आसान नहीं था। परिवार का व्यवसाय निश्चित था, परिवार से बाहर स्त्रियों को आश्रय स्थल नहीं था परंतु आधुनिक परिवारों में परिवार का अपने सदस्यों के प्रति नियंत्रण कम हो गया है, उनमें एकता एवं विश्वास का अभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। पति-पत्नी के झगड़े बढ़े हैं, पिता-पुत्र, भाई-बहन, सास-बहू, मां-बेटी कोई भी इससे अछूते नहीं है।

आधुनिक परिवारों में न केवल अशांति बढ़ी है बल्कि उनका नैतिक पतन भी हुआ है। परिवार के सदस्यों में ईर्ष्या, द्वेष एवं व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिला है। एक समय था जब परिवार का अर्थ प्रेम किया जा सकता था। परन्तु आज परिवार में कलह, वैमनस्य, झगड़े बढ़ते जा रहे हैं। एक ही परिवार के दो सदस्य एक दूसरे के खून के प्यासे बनते जा रहे हैं। पति-पत्नी का रिश्ता जो पवित्र एवं सेवा और सम्मान का रिश्ता माना जाता था वही आज तलाक और एक दूसरे को बरबाद करने में बदल रहा है।

3.2.2 पारिवारिक समस्याएँ

1. वैचारिक भिन्नता – परिवार में दस सदस्य रहते हैं, दसों के विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। ये वैचारिक भिन्नता परिवार के शांत सहवास में समस्या पैदा करती है। सास चाहती है बहू घर से बाहर न जाए, बहू चाहती है आधुनिक ढंग से जीया जाए। पुत्र मोटरसाइकिल की मांग करता है, पिता सबकी सुविधा को ध्यान में रखते हुए कार खरीदने की बात करता है। यह विचारों की भिन्नता के कुछेक उदाहरण हैं। परन्तु पूरे दिन का विचार किया जाए तो पता चलता है कि एक दिन में अनेक भिन्न विचार पारिवारिक सदस्यों के सामने आते हैं और परिवार के लिए अशांति के कारण बन जाते हैं।

2. सहनशीलता का अभाव – तीन प्रकार के व्यक्ति बताए गए हैं—सत्वगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान और तमोगुण प्रधान। सत्वगुण प्रधान व्यक्ति सहिष्णु होते हैं। वे किसी भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को सहन कर लेते हैं। परन्तु रज एवं तम गुण प्रधान व्यक्ति असहिष्णु होते हैं। रजोगुण वाले फिर भी समझाने पर समझ जाते हैं। परन्तु तमोगुण वाले न स्वयं समझते हैं और न समझाने पर समझते हैं। आज समाज में रजोगुण और तमोगुण प्रधान व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। इन गुणों की प्रधानता वाले व्यक्तियों की वृद्धि के कारण ही परिवारों में अशांति बढ़ती जा रही है क्योंकि समय पर चुप रहना, गम खाना, आज के व्यक्तियों के चरित्र में ही नहीं है।

3. भिन्न जीवनशैली– आज की युवा पीढ़ी पाश्चात्य जीवन शैली को अपनाकर खुश है, वहीं पुराने विचारों के या पुराने संस्कारों के दादा-दादी, नाना-नानी इस जीवन शैली में अपने आपको ढ़ाल नहीं पाते। वे अपने पुराने अमूल्य संस्कारों को अपने बच्चों में हस्तान्तरित करना चाहते हैं तब समस्या पैदा हो जाती है। परिवारों में अशांति का माहौल बन जाता है। परिणामस्वरूप युवा पीढ़ी एवं उनके बुजुर्ग वर्ग में संघर्ष बना रहता है।

4. असहयोग (व्यक्तिगत चेतना)– आज व्यक्ति परिवार में रहते हुए भी परिवार से मिलजुल कर नहीं रहता है। कारण

सामुदायिक चेतना घटती जा रही है और स्वार्थ भावना प्रबल होती जा रही है। सभी का अपना विकास, अपनी सुख-सुविधा की ओर ध्यान है। दूसरों से अर्थात् अपने परिवार के ही अन्य सदस्यों से उन्हें कोई मतलब नहीं है। यहां तक कि पूरे दिन में एक-दूसरे से मिलते या बातचीत तक नहीं होती। जिसके कारण एक-दूसरे के दु:ख-सुख को समझ नहीं सकते। जीवन बस केवल मशीन की तरह चलता जाता है। इस स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण संवेदनशीलता घटती जा रही है। यह असंवेदनशीलता भावनात्मक स्तर पर परिवार के सदस्यों में अशांति पैदा कर देती है।

5. अर्थ की समस्या- अर्थ जो सुख का साधन माना जाता था। आज वह तनाव का सबसे बड़ा कारण बन रहा है। इस अर्थ के कारण अच्छे-अच्छे परिवार टूट रहे हैं। छोटे बच्चे से लेकर 80 वर्ष के बूढ़े तक सभी इस पैसे के पीछे भाग रहे हैं। इस पैसे ने मानवीय संवेदनाओं को खत्म कर दिया है। अर्थ के लिए बाप बेटे को और बेटा बाप को मौत के घाट उतारने के लिए तैयार है। आज 'बाप बड़ा ना भैया सबसे बड़ा रुपैया' की उक्ति शत्-प्रतिशत् चरितार्थ हो रही है।

7. आग्रह - अशांति का मूल कारण है— आग्रह। आज प्रत्येक व्यक्ति का अहम् प्रबल है, इसलिए हर कोई अपनी बात पर अड़े रहता है। सच्चाई क्या है? इसे जानने या समझने का प्रयास नहीं किया जाता है। सभी अपनी बात चाहे गलत हो या सही, सत्य साबित करने में लगे रहते हैं। इसी आग्रह वृत्ति के कारण परिवारों में शांत-सहवास की बजाय फूट पैदा हो जाती है। एक ही परिवार के सदस्य एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करने लग जाते हैं।

वैचारिक भिन्नता, सहनशीलता का अभाव, भिन्न जीवनशैली, आग्रह आदि ऐसे अनेक कारण हैं जिनके कारण परिवारों में अशांति फैली हुई है और पारिवारिक समस्याएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं।

3.2.3 परिवार में अनेकांत की उपयोगिता

1. अनाग्रह- अनेकांत एक चक्षु है जो जगत की स्थूल और सूक्ष्म दोनों परिवर्तनों को जानने की सर्वोत्तम दार्शनिक प्रणाली है। जिसके द्वारा अनाग्रह का विकास किया जा सकता है। आज बहुत से परिवार संघर्ष, विवाद, अशांति, हिंसा की ज्वाला में जल रहे हैं कारण प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि जैसा वह बोलता है, सभी वैसा ही बोलें। जैसे वह चाहता है, सभी वैसे ही चलें। जैसा आचरण एवं व्यवहार वह करता है, सभी वैसा ही करें परन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि सभी व्यक्तियों की रुचि, आदत, संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में पारिवारिक जीवन में अनेक समस्याएं सामने आती हैं। इसका समाधान हमें अनेकांत से मिल सकता है। जब हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि सिर्फ मैं ही सही हूं केवल यही बात ठीक नहीं है, दूसरा भी सही हो सकता है तब समस्या सुलझ जाती है। आग्रह छूट जाता है। अनेकान्त का एक सिद्धान्त है— समन्वय। जो हमें अपने विचारों एवं दूसरों के विचारों में तालमेल बैठाना सिखाता है जिससे अनाग्रह का विकास होता है और समस्याओं का समाधान होता है।

2. सह-अस्तित्व- अनेकान्त सह-अस्तित्व की व्याख्या व्यावहारिकता के धरातल पर करता है। पदार्थ की प्रकृति ही ऐसी है, उसमें परस्पर विरोधी तत्त्वों का समावेश होता है। ऐसी स्थिति में हम एकान्तिक दृष्टि से उनकी व्याख्या कर सही निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते हैं। अनेकांत को समझ लेने पर सह-अस्तित्व को भी समझा जा सकता है। दो विरोधी तत्त्व एक साथ रह सकते हैं इसे समझा जा सकता है। तब व्यक्ति पारिवारिक जीवन के भिन्न तथ्यों को भिन्न दृष्टि से समझने के योग्य हो जाता है। वह दूसरों के विचारों को भी आदर देने लग जाता है। वह समझ जाता है कि मेरे और परिवार के सदस्यों के विचार भिन्न हो सकते हैं फिर भी हम एक दूसरे के साथ खुशी-खुशी रह सकते हैं। फलत: पारिवारिक समस्याओं का निराकरण होने लगता है।

3. स्वतन्त्रता - सामान्यत: पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं— पिता-पुत्र, सास-बहु। इन दोनों केन्द्रों में विवादों का मूल कारण परस्पर दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढ़ालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है तो पुत्र की दृष्टि तर्क प्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर आधुनिक संस्कारों को ग्रहण करना चाहता है। यही स्थिति सास और बहू की होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जीए जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जीया था और बहू उसे बन्धन मानती है। यह सब विवाद के कारण बनते हैं। जब तक सहिष्णु दृष्टि और एक-दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाएगा तब तक संघर्ष समाप्त नहीं होगा। अनेकांत का एक सूत्र है— स्वतन्त्रता। जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि जैसे मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है, वैसे सामने वाले का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है उसे भी अपना जीवन अपने ढंग से जीने का अधिकार है तब समस्याएं

सुलझ जाती हैं। वह दूसरों की जीवनशैली में हस्तक्षेप नहीं करता।

4. सापेक्षता– सापेक्ष नीति से व्यवहार में सामंजस्य आता है। परिवारों में बहुत बार एक सदस्य दूसरे सदस्य की अवहेलना कर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। वह स्वयं को मुख्य और अन्य को गौण समझता है। परिणामस्वरूप वहां असामंजस्यता पैदा हो जाती है। विचार–भेद के कारण परिवार के सदस्यों में कटुता, संघर्ष और अशांति पैदा हो जाती है। जब सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास होता है तब व्यक्ति यह समझने लगता है कि हम सब सापेक्ष हैं। मेरे बिना परिवार का कार्य नहीं चल सकता तो परिवार के बिना मेरा भी कार्य नहीं चल सकता।

5. समता – परिवार में वैमनस्य का प्रमुख कारण है–पारिवारिक सदस्यों में समत्व के दृष्टिकोण का अभाव। भगवान महावीर ने कहा– जिस तरह तुम्हें दु:ख अप्रिय है, उसी तरह सर्व प्राणियों को, सर्वभूतों को, सर्वजीवों के लिए दु:ख महा भयंकर अनिष्ट और अशांतिकर है। मुझे कोई दु:ख दे, भयभीत करे, प्रताड़ित करे, तो जैसे मुझे दु:ख होता है, वैसे ही सभी प्राणियों को दु:ख होता है। जब इस दृष्टिकोण का विकास होता है तब व्यक्ति दूसरों को दु:खी करने वाले कार्य नहीं करता। परिणामत: परिवार में शांति का वातावरण निर्मित हो सकता है। अनेकान्त समत्व–दृष्टि को उद्घाटित करने वाला एक सुन्दर प्रयोग है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक शांति का आधार व्यवस्था है, व्यवस्था का आधार सह–अस्तित्व है और सह–अस्तित्व का आधार समन्वय है। समन्वय का आधार सहिष्णुता, विनम्रता, सामंजस्य और सापेक्षता है। ये सभी अनेकांत दृष्टि से ही फलित हो सकते हैं। पारिवारिक जीवन के विरोधी प्रश्नों का समाधान अनेकांत द्वारा ही सम्भव है। अनेकांत अनाग्रही दृष्टि है जो सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान दे सकती है। एकांत दृष्टि सत्य का बाधक एवं अशांति का मूल है। पारिवारिक शांति के लिए अनेकांत एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

3.3 समाज और अनेकान्त

3.3.1 समाज : अर्थ

जब बहुत से फूलों को एक लड़ी में अथवा पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा व्यवस्थित कर दिया जाता है तो उसे फूलमाला कहते हैं। इसी तरह जब बहुत से व्यक्ति और समूह अनेक इकाईयों के रूप में एक–दूसरे से व्यवस्थित रूप से संबंधित हो जाते हैं तब इससे जो कुछ बनता है उसी को हम 'समाज' कहते हैं। जिस तरह माला में किसी एक फूल का अस्तित्व दूसरे फूलों के सम्बन्धों के बिना नहीं है उसी तरह समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति का अस्तित्व तभी तक है जब तक वह दूसरी इकाईयों के साथ सम्बंधों के द्वारा बंधा हुआ है। एक व्यक्ति के जीवन में समाज का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। मनुष्य समाज में उत्पन्न होता है और वह समाज में रहकर ही अपनी उन्नति करता है। उसका धर्म, विचार, संस्कृति, रीति–रिवाज, नैतिक भावना व अन्य क्रियाएँ प्रधानतया समाज की ही देन हैं। मनुष्यों की यह सामाजिकता विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। वह किसी सम्प्रदाय व वर्ग का अंग होता है। वह किसी परिवार, बिरादरी व जाति का अंग होता है। किसी आर्थिक संस्थान का अंग होता है। चाहे कोई भी क्षेत्र हो, विकास के लिए सेवा, परस्परता की भावना की आवश्यकता होती है। सेवा, सहयोग, परस्परता समाज की मुख्य विशेषताएं हैं। जिस समाज में परस्पर सहयोग की भावना नहीं रहती, सामुदायिक चेतना का अभाव रहता है, एक दूसरे के प्रति सहानुभूति की भावना नहीं रहती, वह समाज रुग्ण समाज कहलाता है। एक समय था जब परिवार और समाज के लोग मिलजुलकर रहते थे। हो सकता है उस समय परिस्थितियाँ इतनी जटिल न रही हों। आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से हो जाया करती होगी परन्तु आज युग परिवर्तन के साथ समाज के सदस्यों में अनेक समस्याएं दिखाई दे रही है—

3.3.2 सामाजिक समस्याएं

1. प्रतिस्पर्धा– प्रतिस्पर्धा मानवीय संबंधों में सदैव विद्यमान रहने वाली एक साधारण प्रक्रिया है। यह दो प्रकार की होती है— 1. नकारात्मक प्रतिस्पर्धा 2. सकारात्मक प्रतिस्पर्धा। सकारात्मक प्रतिस्पर्धा समाज में विकास के वातावरण का निर्माण करती है जबकि नकारात्मक प्रतिस्पर्धा एक ऐसी असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है जो विरोधी व्यवहार के द्वारा व्यक्तियों को एक–दूसरे के उद्देश्यों को पराजित करके अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने का प्रोत्साहन देती है। परिणामत: समाज अनेक वर्गों में विभाजित हो जाता है। वर्तमान युग में सामाजिक वर्गों के निर्माण में प्रतिस्पर्द्धा का सबसे अधिक हाथ है। नकारात्मक प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया में ईर्ष्या, द्वेष

और शोषण के भाव निहित होने के कारण यह एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या है।

2. संघर्ष – संघर्ष किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा किया गया एक ऐसा प्रयत्न है जो शक्ति, हिंसा, प्रतिकार अथवा विरोध के द्वारा अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों की क्रिया में बाधा डालता है। संघर्ष में क्रोध और घृणा की भावना ही नहीं, बल्कि हिंसा, आक्रमण और क्रूरता के तत्त्वों का भी समावेश होता है। सरल शब्दों में कहा जाए तो प्रतिस्पर्धा जब हिंसक रूप धारण कर लेती है तब संघर्ष बन जाती है और फिर समाज के सदस्यों के बीच किसी भी कार्य को लेकर समझौते की कोई गुंजाइश नहीं रहती। समाज समस्याओं के घेरे में घिर जाता है।

3. जातिभेद–समस्या – जातिप्रथा की कुरीति हिन्दू समाज की एक विशेषता है जो जन्म पर आधारित है। इसने जातिवाद को जन्म दिया। जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपनी जाति के प्रति अत्यधिक लगाव रखता है। वर्तमान जीवन में कानूनी रूप से विभिन्न जातियों के बीच पायी जाने वाली उच्चता और निम्नता की भावना को कम करने का कितना ही प्रयत्न किया जा रहा हो लेकिन व्यावहारिक रूप से जातीय संकीर्णता आज भी अनेक क्षेत्रों में विद्यमान है। निम्न जातियां उच्च स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं जबकि उच्च कही जाने वाली जातियां उनको ऐसा करने से रोकने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देती है, इस प्रकार समाज में जातीय समस्याएं अपनी जड़ें फैलाती रहती हैं।

4. वर्ग–संघर्ष – आज सामाजिक वर्गों के बीच चलने वाला वर्ग–संघर्ष समाज के लिए बहुत बड़ी समस्या है। समाज के कुछ समूह सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भिन्नता तथा जीवन के प्रतिमान एक दूसरे से अलग होने के कारण विभिन्न वर्गों का रूप धारण कर लेते हैं फिर यही वर्ग सामाजिक और आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से स्वयं को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानने लग जाते हैं और उनके बीच विवाद खड़े हो जाते हैं।

5. साम्प्रदायिकता – एक ही धर्म को मानने वाले अनुयायियों के समूह को सम्प्रदाय कहते हैं। सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं— हिन्दू सम्प्रदाय, जैन सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय आदि। सम्प्रदाय होना गलत बात नहीं है क्योंकि सभी सम्प्रदायों का लक्ष्य अपने अनुयायियों को अहिंसा, सत्य आदि धर्म की प्रेरणा ही देना है परन्तु जब एक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं को लेकर दूसरे सम्प्रदाय से लड़ने लगता है, उसे नीचा दिखाने का प्रयास करता है तब समस्याएँ एवं संघर्ष पैदा होते हैं। यह साम्प्रदायिक कट्टरता है और एक स्वस्थ समाज के लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है।

ऐसा लगता है उपरोक्त समस्याएं आज समाज की मुख्य विशेषताएं बन गई हैं। यद्यपि समाज का हर सदस्य चाहता है कि उसका समाज स्वस्थ हो, क्योंकि स्वस्थ समाज में ही व्यक्ति सर्वांगीण रूप से विकास कर सकता है। स्वस्थ समाज ही व्यक्ति की सुरक्षा एवं व्यक्तित्व निर्माण का साधन बनता है। इसलिए आवश्यकता है हम जिस समाज में रह रहे हैं वह प्रतिस्पर्धा, साम्प्रदायिकता, जाति–भेद आदि समस्याओं से मुक्त होकर स्वस्थ समाज बने।

स्वस्थ समाज निर्माण के लिए आवश्यक है समाज का हर व्यक्ति अपने जीवन में अनेकान्त का व्यावहारिक प्रयोग करे। व्यक्ति–व्यक्ति मिलकर ही समाज बनता है, इसलिए समाज को बदलने के लिए व्यक्ति को बदलना जरूरी है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार— व्यक्ति में वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों के मूल तत्त्व सन्निहित है। व्यक्ति और समाज एक भी है और भिन्न भी है। इसलिए अपेक्षा है व्यक्ति का रूपान्तरण हो। रूपान्तरण का मार्ग है— अनेकान्त का प्रयोग। स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है।

3.3.3 समाज में अनेकान्त की उपयोगिता

अनेकान्त के पाँच प्रमुख सिद्धान्त हैं— 1. सत्–प्रतिपक्ष, 2. सापेक्षता, 3. स्वतंत्रता, 4. समन्वय, 5. सह–अस्तित्व—ये सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं।

1. सत्–प्रतिपक्ष– जैसा कि सामाजिक समस्याओं की चर्चा करते हुए हमने जाना कि समाज की एक बहुत बड़ी समस्या है— वर्ग संघर्ष। समाज के कुछ समूह जो कुछ असमानताओं के कारण वर्गों में विभाजित हो जाते हैं, समाज में समस्या पैदा करते हैं, पारस्परिक सौहार्द का वातावरण निर्मित नहीं होने देते। ऐसे वर्गों को अनेकान्त के सूत्रों का प्रशिक्षण दिया जाए, उनके विचारों में परिवर्तन घटित किया जाए कि जहां पक्ष है वहां प्रतिपक्ष भी होगा। दो वर्गों में असमानता होने पर भी वह एक साथ रह सकते हैं। ऐसे विचारों को पोषण दिया जाए तो समाज में स्वस्थ वातावरण का निर्माण हो सकता है।

2. सापेक्ष चिंतन – सामाजिक संबंधों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है— सापेक्ष चिंतन। निरपेक्ष दृष्टिकोण में सामाजिकता नहीं हो सकती क्योंकि निरपेक्ष दृष्टि कहती है– पड़ौसी मरे या जीए, भूखा रहे या खाए मुझे क्या? जबकि सामाजिक दृष्टि कहती है— 'परस्परोपग्रह जीवानाम्' अर्थात् परस्पर उपकार, सहयोग ही जीवन है।

3. स्वतंत्रता – जातीय संकीर्णता आज सामाजिक संघर्षों का प्रमुख कारण है और जातीय संकीर्णता का कारण है– मिथ्या दृष्टिकोण। प्राचीन काल की वर्ण व्यवस्था ने समाज में अनेक वर्गों को जन्म दिया। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण व्यवस्था कार्य विभाजन की दृष्टि से की गई थी परन्तु आज उसे जन्म के साथ जोड़ दिया गया है। यह गलत और मिथ्या दृष्टि है। अनेकान्त के अनुसार अस्तित्व की दृष्टि से सभी प्राणी स्वतंत्र है। इसलिए वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं, श्रम विभाजन के आधार पर होनी चाहिए। व्यक्ति जन्म से नहीं, अपितु कर्म से महान बनता है।

4. समन्वय – बहुत बार समाज के व्यक्तियों में आपसी फूट या संघर्ष पैदा हो जाते हैं, जिसके कारण कभी व्यक्ति समाज से कट जाता है तो कभी समाज व्यक्ति को बहिष्कृत कर देता है। ऐसी स्थिति पैदा न हो इसके लिए आवश्यक है— समन्वय नीति। समन्वय नीति के अनुसार— व्यक्ति और समाज सापेक्ष है। व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। कहीं व्यक्ति गौण होता है तो कहीं समाज और कहीं समाज मुख्य होता है तो कहीं व्यक्ति। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही समाज और व्यक्ति का समुचित विकास किया जा सकता है। अनेकान्तिक दृष्टिकोण के अनुसार हमें कभी व्यक्ति की इच्छा, रुचि और मांग को पूरी करना होगा तो कभी समाज के नीति–नियम मर्यादाओं का पालन करना होगा। इस समन्वय से ही व्यक्ति और समाज का तालमेल बैठ सकेगा तथा संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि विषैले तत्त्वों को स्थान नहीं मिलेगा।

5. सह–अस्तित्व – साम्प्रदायिकता का अर्थ है— अपने–अपने सम्प्रदाय को अच्छा या श्रेष्ठ मानना। जब तक इस आग्रह का निरसन नहीं होगा। एक सम्प्रदाय अपने सम्प्रदाय को अच्छा मानते हुए दूसरे सम्प्रदाय की अवेहलना करेगा तब तक असाम्प्रदायिकता नहीं पनप सकती। असाम्प्रदायिकता के विकास के लिए आवश्यक है समाज में सह–अस्तित्व को स्थान मिले। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि साम्प्रदायिक भिन्नता होते हुए भी हम शान्त–सहवास कर सकते हैं। एक साथ मिलकर रह सकते हैं। केवल मैं और मेरा सम्प्रदाय ही जीए, आगे बढ़े, अन्य को समाप्त कर दे यह मिथ्या आग्रह है, समाज में समस्या का वातावरण निर्मित करने वाली है अत: मुझे इस आग्रह को छोड़ देना चाहिए। सम्प्रदाय चाहे कोई भी हो उसका सार धर्म है, अध्यात्म है, जिसे प्राप्त करना मनुष्य मात्र का लक्ष्य है फिर सम्प्रदाय में उलझकर झगड़े, लड़ाई क्यों करें? इस सत्य को समझना होगा।

3.4 अर्थशास्त्र में अनेकान्त

3.4.1 अर्थनीति : अर्थ

साधारण बोलचाल की भाषा में 'अर्थ' का मतलब है — धन, रुपया, पैसा और 'शास्त्र' का अर्थ है– ज्ञान देने वाला। अत: धन का ज्ञान देने वाला शास्त्र 'अर्थशास्त्र' कहलाता है। चाणक्य ने अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए कहा — ''मनुष्यों की जीविका को 'अर्थ' कहते हैं और मनुष्यों से युक्त भूमि भी 'अर्थ' कही जाती है जो शास्त्र इस भूमि की प्राप्ति तथा इसकी रक्षा के उपायों को बताता है उसे अर्थशास्त्र कहते हैं।''

भारतीय अर्थव्यवस्था मूलत: एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है। आजादी मिलने के बाद 1951 से आर्थिक और सामाजिक विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिए विभिन्न आयोजनों के सहारे राष्ट्रीय सरकार अनेक उपाय अपना रही है। अतीत की तुलना में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वर्तमान में विकास की दिशा में निस्संदेह आगे बढ़ी भी है लेकिन इस विकास के बावजूद जनसाधारण की गरीबी और बेरोजगारी पर कोई विशेष प्रभाव अभी नहीं पड़ पाया है।

आधुनिक अर्थशास्त्र भौतिकवाद के आधार पर विकसित हुआ है। आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख पुरुष 'केनिज' कहते हैं ''हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इस रास्ते में नैतिक विचारों का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है।'' उनका स्पष्ट कथन है ''यह नैतिकता का विचार न केवल अप्रासंगिक है बल्कि हमारे मार्ग में बाधक भी है।'' इस एकांगी दृष्टिकोण ने ही वर्तमान में आर्थिक अपराध की स्थितियां बनाई हैं। आज भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। वर्तमान की अर्थशास्त्रीय अवधारणा ने अनेक समस्याएं बढ़ाई हैं, आर्थिक अपराध बढ़ाए हैं। अत: आवश्यकता है विकास–कार्य का संचालन इस ढंग से किया जाए कि एक ओर

विकास की गति तेज हो और दूसरी तरफ देश के जन साधारण को सामाजिक न्याय उपलब्ध हो। उनकी गरीबी और बेरोजगारी दूर हो और उनका जीवन-स्तर सही अर्थ में ऊपर उठ सके।

अर्थव्यवस्था अल्पविकास की स्थिति से बाहर निकले। इसके लिए हमें अर्थनीति के संदर्भ में अनेकान्त का प्रयोग करना होगा। हम अर्थनीति में अनेकान्त का प्रयोग करें इससे पूर्व वर्तमान अर्थनीति ने किन-किन समस्याओं को जन्म दिया है इसे भी जानना जरूरी है।

3.4.2 अर्थनीति की समस्याएं

1. बेरोजगारी - आज की अर्थनीति ने समाज में सर्वत्र असमानता फैलाई है। समाज के कुछ लोगों के पास धन रखने को स्थान नहीं तो दूसरी ओर बहुत सारे पढ़े-लिखे नौजवान रोजगार की तलाश में वर्षों से घूम रहे हैं। ग्लोबल अर्थव्यवस्था जिस देश में भी प्रवेश करती है वहां धन में अत्यधिक असंतुलन की व्यवस्था के निर्माण की शुरुवात करती है और गरीबों की संख्या व गरीबी का स्वरूप दोनों को बढ़ाने के साथ-साथ अमीरों की संख्या में कमी व स्तर में बढ़ोतरी जैसी दोनों स्थितियों को दर्शाती है। संयुक्त राष्ट्र संगठन द्वारा जारी 1999 की मानव संसाधन रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 1960 में दुनियां के 20 प्रतिशत व्यक्तियों की आय उस समय के 20 प्रतिशत गरीब लोगों की तुलना में तीस गुना अधिक थी। जो 1997 में बढ़कर 74 प्रतिशत हो गई।

2. भ्रष्टाचार - अधिकार के दुरुपयोग के लिए जब किसी से घूस लेते हैं, रिश्वत लेते हैं तो उसे भ्रष्टाचार कहते हैं। ग्लोबल अर्थव्यवस्था ने देश में भ्रष्टाचार को कितना बढ़ाया है स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं। आज प्राय: कम्पनियां एवं संस्थाएं कलुषित हो रही है। अर्थ-प्राप्ति के लिए घृणित उपायों का प्रयोग करने में भी समाज के वरिष्ठ लोग नहीं घबराते।

3. अनैतिकता - अर्थनीति की वर्तमान व्यवस्था से अनैतिकता को बढ़ावा मिला है। समाज और राष्ट्र में चोरी, घोटाले, घुसखोरी आदि अप्रामाणिक कार्यों में बढ़ोतरी हुई है। जब तक इन कार्यों में वृद्धि होती रहेगी, हम विकास की कल्पना भी नहीं कर सकते। आर्थिक विकास के लिए नैतिकता का विकास बहुत जरूरी है। जिस समाज में अनैतिकता फैलती है, उस समाज में परस्पर मन-मुटाव, कलह, अशान्ति तथा तनावपूर्ण वातावरण निर्मित होता है। हमारी वर्तमान अर्थनीति से अनैतिकता को पोषण मिल रहा है।

4. प्रतिस्पर्धा - हमारी चेतना के अनेक स्तर हैं, उनमें से एक है- इन्द्रिय-चेतना का स्तर। इन्द्रिय-चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति केवल इन्द्रियों की मांग को पूरी करता रहता है। वह अपनी इन्द्रियों के इशारे पर नाचता रहता है। इन्द्रियाँ कहती हैं— टी.वी. चाहिए, कार चाहिए, रंग-बिरंगे कपड़े चाहिए और व्यक्ति इन मांगों को पूरी करने में दिन-रात, सुबह-शाम लगा रहता है। इन्द्रिय स्तर पर जीने वाला व्यक्ति इन्द्रियों से आगे न सोचता है, न देखता है और न कुछ समझ पाता है। आज समाज में इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले व्यक्तियों की ही अधिकांश संख्या नजर आ रही है। इसलिए प्रतिस्पर्धा की दौड़ रफ्तार से बढ़ती जा रही है। प्रतिस्पर्धा की इस दौड़ में प्रथम नम्बर प्राप्त करने के लिए वे कुछ भी कर सकते हैं। इसी प्रतिस्पर्धा की चेतना ने समाज में अनैतिकता फैलाई है, अपराध चेतना को जन्म दिया है जो आज की सबसे बड़ी समस्या है।

5. आर्थिक असमानता - स्वतंत्रता के 58 वर्ष पश्चात् भी देश का समान रूप से विकास नहीं हुआ है। आर्थिक असमानता आज भी विद्यमान है जो समाज को दो वर्गों में विभाजित करती है। आर्थिक विकास का लाभ अधिकांशत: धनी वर्ग को प्राप्त हो रहा है। गरीब अधिक गरीब होता जा रहा है। समाज के अधिकांश संसाधनों पर धनिकों का आधिपत्य है। आर्थिक असमानता ने क्षेत्रीयता व आतंकवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। धन की भूमिका हर क्षेत्र में बढ़ती जा रही है। यहां तक की चुनावों में वोट भी धन के बल पर खरीद लिये जाते हैं। खर्चीले चुनावों के कारण योग्य होने पर भी निर्धन व्यक्ति चुनाव में खड़े होने में असमर्थ हैं। किसी भी देश व राष्ट्र के विकास के लिए आर्थिक असमानता एक बहुत बड़ी बाधा है जो एकान्तिक दृष्टिकोण की ही उपज है।

इन समस्याओं का मूल कारण है— आधुनिक अर्थशास्त्र का आधार। आधुनिक अर्थशास्त्र में मुख्य तीन आधार है- इच्छा, आवश्यकता व मांग। आधुनिक अर्थशास्त्र कहता है— इच्छा को बढ़ाओ, अनियंत्रित इच्छा ही हमारे लिए कल्याणकारी और विकास का हेतु है। जहां इच्छा का नियंत्रण करेंगें, विकास अवरुद्ध हो जायेगा। अर्थशास्त्र का सूत्र है— आवश्यकता को असीम विस्तार दो, कहीं रोको मत। आधुनिक अर्थशास्त्र के इन्हीं सूत्रों ने आज मनुष्य के समक्ष समस्याएं खड़ी की हैं। कारण-जहां अनियंत्रित इच्छा है वहां मनुष्य निश्चित रूप से परिधि में चला जाता है और अर्थ केन्द्र में। यह एकांगी दृष्टिकोण समस्याएं पैदा करता है। समस्या के समाधान के लिए हमें अनेकांतिक दृष्टि से सोचना होगा। भगवान महावीर ने कहा- ''खणमेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा'' अर्थात् भौतिक सुख

क्षणिक होता है, उसका परिणाम दु:खद होता है। हमें इस यथार्थ पर ध्यान देना होगा। कोरा भौतिकवाद नहीं हो, कोरा एकांगी दृष्टिकोण भी नहीं हो किन्तु अनेकांत का दृष्टिकोण विकसित हो। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का समन्वय हो।

3.4.3 अर्थशास्त्र में अनेकान्त की उपयोगिता

1. विकेन्द्रीकरण – केन्द्रीकरण आज की अर्थनीति का मुख्य आधार है। केन्द्रीकरण ने बेरोजगारी को बढ़ावा दिया है, समस्याएं पैदा की हैं। आज जो आर्थिक अपराध सामने आ रहे हैं। उन सबका कारण है—केन्द्रीकरण क्योंकि पूंजी का केन्द्रीकरण सामाजिक विषमता को बढ़ावा देता है। एक के पास आलीशान बंगले, बीस पच्चीस व्यक्ति सेवा में, प्रत्येक बच्चे की अलग-अलग कार, मोटर-साइकिल होती है तो दूसरी ओर तन को ढ़कने के लिए कपड़े तो दूर, भूख मिटाने के लिए रोटी भी उपलब्ध नहीं होती। समाज की ऐसी विषमता व्यक्ति को चोर, डाकू-लुटेरा बनने के लिए मजबूर कर देती है। यह ठीक है कि केन्द्रीकरण को सर्वथा मिटाया नहीं जा सकता परंतु उसका संतुलित उपयोग होना चाहिए। अनेकान्त के अनुसार केन्द्रीकरण के साथ विकेन्द्रीकरण को भी ध्यान में रखा जाए। पूंजी का समान वितरण हो। कोई भूखा न सोए।

2. सापेक्षता – अकेला जो भी बढ़ना चाहे, चाहे वह व्यक्ति हो या समाज हो या राष्ट्र, खतरा पैदा करता है। जो लोक के, जगत के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है और जो अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह जगत के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। पर्यावरण का बड़ा सूत्र है— तुम अकेले नहीं हो, तुम अपने अकेले के लिए कुछ करो तो सोचो कि मेरे इस कार्य का, मेरे इस व्यवहार का पूरे विश्व पर क्या प्रभाव पड़ेगा? महावीर ने अनेकांत की दृष्टि से कहा—''एक अंगुली हिलती है तो उससे पूरा विश्व प्रकम्पित होता है।'' हमें अर्थनीति के संदर्भ में भी इस सापेक्ष दृष्टि से सोचना होगा। प्रत्येक व्यक्ति धनी-गरीब, कृषक-उद्योगपति, मजदूर-मालिक सभी सापेक्ष है। केवल अपने स्वार्थ का ध्यान दिया गया तो समस्याएं पैदा होंगी। हड़ताल, आक्रमणकारी हमले, चोरी, डकैती, घूसखोरी बढ़ेगी। अत: ''अर्थ का अतिसंग्रह न हो'' इस सिद्धान्त को समझना होगा।

3. मध्यवर्ती सिद्धान्त – धर्मशास्त्र कहता है— आवश्यकता को कम करो और अर्थशास्त्र कहता है— आवश्यकताओं का विस्तार करो। सामाजिक मनुष्य इच्छाओं और आवश्यकताओं को समाप्त कर जीवन को नहीं चला सकता और उनका विस्तार कर शांतिपूर्ण जीवन भी नहीं जी सकता। इस संदर्भ में अनेकांत एक सिद्धांत का प्रतिपादन करता है- इच्छा का परिमाण (सीमित) करो। आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए विलासिता के कोटि की इच्छाओं का संयम करो।

4. विसर्जन की चेतना का जागरण – प्रत्येक प्राणी में कुछ मौलिक मनोवृत्तियाँ होती हैं। मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों में से एक है— संग्रह की वृत्ति। जो कुछ उसे प्राप्त है, उसका वह संग्रह करना चाहता है। पूंजी का केन्द्रीकरण इस वृत्ति की निष्पत्ति है। यदि मनुष्य आवश्यकता पूर्ति के लिए संग्रह करता तो कोई खास बात नहीं थी परन्तु वह अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए संग्रह करता है। इस चेतना ने समाज में आर्थिक विषमता पैदा की है। अनेकान्त व्यक्ति के भीतर विसर्जन की चेतना को जागृत करता है। अनेकान्त का एक सिद्धान्त स्वतन्त्रता इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्र है इसलिए उसको अपनी निम्नतम आवश्यकता रोटी, कपड़ा और मकान को पूरी करने का अधिकार है। अत: प्रत्येक व्यक्ति पदार्थ संग्रह की सीमा को समझे। उतना ही संग्रह करे, जिससे दूसरों को हानि न हो, जिससे दूसरों के भाग का अपहरण न हो।

बोध प्रश्न-1

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

(1) परिवार, समाज व अर्थनीति से आप क्या समझते हैं?

(2) सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में अनेकान्त की उपयोगिता बताइये?

(3) अर्थशास्त्र क्या है? अर्थनीति के परिप्रेक्ष्य में अनेकान्त का महत्त्व सिद्ध करें?

(4) 'परिवार, समाज और अर्थनीति की समस्याओं का समाधान अनेकान्त है' क्या आप इस कथन से सहमत हैं, कैसे? सिद्ध करें।

3.5 राजनीति और अनेकान्त

3.5.1 राजनीति : अर्थ

'राजनीति' अंग्रेजी के शब्द 'पॉलिटिक्स' का हिंदी पर्याय है। ऊपर से देखने पर तो इसका स्वरूप सरल और जाना पहचाना प्रतीत होता है किंतु जैसे-जैसे इसे समझने की चेष्टा करते हैं, इसकी तहें खुलती जाती हैं और इसकी जटिलता कम होने की बजाय बढ़ती जाती है फिर भी सरल शब्दों में स्पष्ट किया जाए तो राजनीति का अर्थ ऐसी कार्यवाहियों से हैं जिसका उपयोग राज्यसत्ता और लोकहित से जुड़े हुए लोग अपने विभिन्न क्रिया-कलापों, नीतियों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं।

वस्तुत: मनुष्य केवल एक सामाजिक प्राणी ही नहीं वरन् बहुत हद तक उसे एक राजनीतिक प्राणी भी कहा जा सकता है। मनुष्य अपने स्वभाव से ही एक ओर राज्य की आज्ञाओं का पालन करता है तो दूसरी ओर नागरिक आदर्शों के रूप में समानता, स्वतन्त्रता और न्याय का उपयोग भी करना चाहता है। एक ओर यदि मनुष्य के क्रियाकलाप राज्य और उसकी नीतियों को प्रभावित करते हैं तो दूसरी ओर राज्य की सम्प्रभुता शक्ति और सत्ता नीतियां मनुष्य को भी विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती हुई उसके क्रियाकलापों को मर्यादित एवं नियन्त्रित करती है परन्तु आज राज्य की नीतियां जिसे हम राजनीति के नाम से जानते हैं, वह जनता को अनुशासित एवं मर्यादित करने की बजाय स्वयं ही अनियमित, अमर्यादित है या यों कहें इनका उपयोग सही ढ़ंग से नहीं किया जा रहा है। राजनैतिक जीवन वैचारिक संकीर्णता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद-समाजवाद आदि अनेक विचार धाराएं तथा एकतंत्र, राजतंत्र, प्रजातंत्र, श्रेणीतंत्र आदि अनेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं तथा अनेक क्षेत्रीय दलों का निर्माण हो रहा है।

3.5.2 राजनीति की प्रमुख समस्याएं

1. वैचारिक संकीर्णता - वर्तमान में राजनैतिक जीवन वैचारिक संकीर्णता से परिपूर्ण है। जैसा की हमने जाना लोकतंत्र, राजतंत्र, पूंजीवाद, समाजवाद अनेक विचारधाराएं वर्तमान में प्रचलित हैं। ये विरोधी विचार एवं व्यवस्थाएं एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं प्रत्येक राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु तत्पर है।

2. भ्रष्टाचार - भ्रष्टाचार— भ्रष्ट और आचरण, इन दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है। भ्रष्टाचार शब्द का अर्थ सबके लिए जाना पहचाना है- 'आचरण से गिरा हुआ।' आज राजनीति की सबसे बड़ी समस्या है- राजनेताओं का आचरण से गिरा हुआ होना। भ्रष्टाचार के प्रमुख तत्त्व हैं— अवैधानिक तरीका, रिश्वत, पक्षपात या अन्याय, सौदेबाजी, न्याय और नैतिकता की उपेक्षा किन्तु आज यही तत्त्व राजनीति के प्रमुख अंग बने हुए हैं।

3. स्थानीय शासक वर्ग का स्वार्थ - स्थानीय समस्याओं के सम्बंध में किसी भी स्थान विशेष के निवासियों द्वारा जो प्रशासनिक तथा विकास के कार्य किये जाते हैं, उसे स्थानीय शासन कहते हैं। वर्तमान में ग्राम पंचायतें, पंचायत समितियां, जिला परिषदें, नगर निगम और नगर पालिकाएं स्थानीय शासन की संस्थाएं हैं। स्थानीय शासन का मुख्य कार्य होता है- 1. स्थानीय विषयों का कुशल प्रबन्धन करना 2. सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रति नागरिकों में जागरूकता पैदा करना 3. नागरिकों में देशभक्ति की भावना पैदा करना 4. शासकीय कार्यों में जन सहभागिता बढ़ाना 5. केन्द्रीय सरकार का भार वहन करना तथा नागरिकों के चहुंमुखी विकास में सहायक बनना परन्तु किञ्चित स्वार्थों के कारण स्थानीय शासक अपने कार्यों का सही ढंग से निर्वहन नहीं करते।

4. राजनीतिक दलों में गुटीय राजनीति - लगभग सभी राजनीतिक दल तीव्र आंतरिक गुटबंदी की समस्या से पीड़ित हैं। लगभग सभी राजनीतिक दलों में अनेक छोटे-बड़े गुट विद्यमान हैं। इन दलों में गुटीय राजनीति इतनी तीव्र है कि चुनावों में एक गुट के समर्थन प्राप्त उम्मीदवार को उसी दल के दूसरे गुट के सदस्य पराजित करने की भरसक कोशिश करते हैं।

आचार्य तुलसी के शब्दों में किसी भी देश के आचार के विकास और ह्रास में राजनैतिक स्थितियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। जिस देश का राजनैतिक वातावरण स्वस्थ होता है वहां नैतिक मूल्यों को विकसित होने का अवसर सहज उपलब्ध होता है। और जिस देश की नैतिक संरचना स्वस्थ है वहां राजनैतिक वातावरण को शुद्ध रहने का मौका मिलता है। नैतिक मूल्यों और राजनैतिक परिस्थितियों के स्वस्थ होने से लोक जीवन उन्नत होता है। अत: अपेक्षा है राजनीति की उपरोक्त समस्याओं का समाधान हो। राजनीति की समस्याओं के समाधान के लिए भी अनेकान्त के प्रयोगों का उपयोग हो।

3.5.3 राजनीति में अनेकान्त की उपयोगिता

1. वैचारिक समस्याओं का समाधान – राजनीति की मूल समस्या है— वैचारिक संकीर्णता। दो भिन्न पार्टियां एक दूसरे को सहन नहीं कर सकती। पक्ष एवं विपक्ष के नेताओं में विचार भेद होने के कारण अनेक समस्याएं पैदा होती रहती है। अनेकान्त का अर्थ है– अभिन्नता को स्वीकार करना, भिन्नता में भी सह–अस्तित्व की संभावना को खोजना।

2. सम्यक दृष्टिकोण का विकास – राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक है— राजनेताओं का दृष्टिकोण बदले। जब दृष्टिकोण सही नहीं होता तब आग्रह, असहिष्णुता, एक दूसरे पर आरोप–प्रत्यारोप लगाने की वृत्ति रहती है। अतः आवश्यकता है व्यक्ति का दृष्टिकोण बदले।

आज के राजनैतिक जीवन में अनेकान्त के दो व्यावहारिक प्रयोग – वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त आवश्यक हैं। सामान्यतया होता यह है कि एक राजनेता यदि कोई अवगुण दूसरे राजनेता के कार्य में निकाल दे तो वह अपनी गलती को स्वीकार करने की बजाय आगबबूला हो जाएगा और उसका दूसरा कदम होगा कि उस राजनेता को अपने मार्ग से कैसे हटाया जाए ? जबकि आवश्यकता है विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना।

अनेकान्त दृष्टि कहती है—

1. सभी अपना दृष्टिकोण सम्यक् बनाएँ।
2. समस्या सुलझाने हेतु एक साथ बैठें।
3. एक दूसरे को समझने का प्रयास करें।

ऐसा करके राजनैतिक समस्याओं को सरल ढ़ंग से सुलझाया जा सकता है।

3.6 विश्वशांति और अनेकान्त

3.6.1 विश्वशांति : अर्थ

विश्व–इतिहास अनेक युद्धों का साक्षी रहा है। प्रथम विश्व युद्ध हो चाहे द्वितीय विश्वयुद्ध, युद्ध के पश्चात् मानव समाज की जो दयनीय स्थिति बनी है, सदियों तक हम नहीं भूल पाएँगे फिर भी प्रत्येक युद्ध के पश्चात् शांति स्थापना के प्रयास भी समानान्तर रूप से हुए हैं जैसे प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना आदि।

महान दार्शनिक एवं चिन्तक भी इन प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं कि विश्व–शांति एवं न्याय की स्थापना कैसे की जाए? युद्धों का उन्मूलन कैसे किया जाए?

विश्वशांति मानव जाति के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए अत्यंत आवश्यक है। युद्ध या युद्ध का भय, विकास एवं प्रगति के सभी साधनों को शांतिपूर्ण उपयोग से हटाकर युद्ध या युद्ध की तैयारियों के लिए मोड़ देता है। जब–जब मानवता युद्ध से त्रस्त हुई, तब–तब शांति की अधिकतम आवश्यकता महसूस की गई। विश्व में शांति के संदर्भ में दो अवधारणाएं प्रचलित है– पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा।

पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध का अभाव मात्र शांति है। उनका चिंतन है कि युद्ध नहीं होंगे तो अशांति भी नहीं होगी। इस अवधारणा के अनुसार शांति का एक अर्थ है— संगठित और सामूहिक हिंसा का अभाव। पूर्वी अवधारणा शांति के इन अर्थों को नकारात्मक शांति की संज्ञा देकर सकारात्मक शांति के विचारों को विकसित करती है। उनके अनुसार शांति, संगठित और सामूहिक हिंसा के अभाव से कहीं अधिक है क्योंकि राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच असमानता, गुलामी, शोषण आदि भी अशांति के महत्त्वपूर्ण कारण बनते हैं।

इस प्रकार शांति का अर्थ कुछ भी लिया जाए परन्तु इतना तो सच है कि आज सभी विश्व शांति चाहते हैं। विश्व में शांति की व्यवस्था हो इसके लिए विश्व में अशांति पैदा करने वाले तत्त्वों पर ध्यान देना जरूरी है।

3.6.2 विश्व अशांति के कारण

1. आतंकवाद – आतंकवाद मुख्यतया कुछ व्यक्तियों के एक समूह द्वारा निजी या सार्वजनिक सम्पत्ति एवं सार्वजनिक व्यवस्था के खिलाफ किया गया उग्र आपराधिक कार्य है। जिसका मुख्य उद्देश्य होता है— हिंसक कार्यवाहियों द्वारा आतंक, भय फैलाकर समाज या राज्य से अपनी मांग को मनवाना। आतंकवादी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सामान्यत: सार्वजनिक नेताओं की हत्या, तोड़–फोड़, सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुंचाना, बम विस्फोट, विमानों का अपहरण, राजनीतिकों व प्रमुख हस्तियों का अपहरण तथा सार्वजनिक स्थानों में हिंसा द्वारा जनहानि करना आदि तकनीकों को अपनाते हैं। अमेरिका में वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर पर किया गया घातक हमला, जम्मू–कश्मीर का आतंक आदि दिल दहलाने वाले आतंक के उदाहरण हमारे सामने है। यह आतंकवाद न केवल किसी देश व राष्ट्र का अपितु पूरे विश्व की समस्या का कारण बना हुआ है।

2. शस्त्रों की होड़ – विश्व–अशांति का एक प्रमुख कारण है— शस्त्रों की होड़। विश्व में शांति व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर शस्त्रों का निर्माण अंधाधुंध हो रहा है। अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण हेतु मानवीय एवं भौतिक संसाधनों का बहुत बड़ा भाग उपयोग में आ रहा है। जिन अतिबौद्धिक मानव मस्तिष्क का उपयोग शांति एवं अहिंसक कार्य हेतु किया जाना चाहिए था, उनका उपयोग हिंसा जैसे संहारक कार्य हेतु किया जा रहा है। हिंसक कार्य दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं, परिणाम स्वरूप स्व–सुरक्षा के नाम पर प्रत्येक देश शस्त्रों के निर्माण में पैसों का एक बहुत बड़ा भाग खर्च कर रहा है।

3. अधिकार प्रबलता – विश्व अशांति का एक ओर प्रमुख कारण है— अधिकार–प्राबल्य। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अधिकार जमाना चाहता है। कोई साम्राज्य का लिप्सु है तो कोई अपने अधिकारों को सार्वभौम बनाने की लगन में है। कोई धन के बल पर, कोई सत्ता के बल पर, कोई शस्त्रास्त्र के बल पर तो कोई कूटनीति के बल पर दूसरे पर हावी होने की बात सोच रहे हैं। दुनियां अपने अधिकारों को अपने तक सीमित रखने में संतोष नहीं मान रही है। यही विश्व–अशांति का एक बहुत बड़ा कारण है।

4. अपराध – अपराध एक गंभीर विश्वस्तरीय समस्या है। सामान्यत: अपराध की व्याख्या कानूनी दृष्टिकोण से की जाती है। इस दृष्टि से ऐसा कोई भी कार्य अपराध है जिसे कानून वर्जित समझता है। अपराध वे कार्य हैं जो समाज के लिए वास्तव में अहितकर बताए गए हैं जबकि विश्व के सभी देशों में अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। हर देश, अपराधों में कमी लाने के लिए प्रयत्नशील है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संस्थाएं इस विषय में कार्यरत हैं फिर भी अनेक कारणों से अपराधों में कमी होने के बजाय निरन्तर वृद्धि हो रही है।

3.6.3 विश्वशांति में अनेकान्त की उपयोगिता

1. सापेक्षता – आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र, विश्व इन सभी क्रमिक संगठनों का अर्थ है– सापेक्षता। सापेक्ष अर्थात् एक दूसरे का पूरक होना। एक दूसरे के बिना काम नहीं चलना। वस्तुत: इस सापेक्ष दृष्टिकोण के बिना कोई भी संगठन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर एक समाज दूसरे समाज पर अधिकार जमाना चाहता है तब संघर्ष पैदा होता है, अशांति पैदा होती है। विश्व में शांति व्यवस्था कायम रखने के लिए हमें सापेक्ष दृष्टि से सोचना होगा। हम सब एक दूसरे पर निर्भर हैं। मेरी दूसरों को अपेक्षा है, जरूरत है तो मुझे भी दूसरों की जरूरत है इस सत्य को समझना होगा और तभी शांति कायम रह पाएगी। वैयक्तिक, जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सापेक्षता ही न केवल देश और राष्ट्र में अपितु पूरे विश्व में शांति को जन्म देगी।

2. नि:शस्त्रीकरण – अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अनेक समस्याएं है। उनमें से एक है— अस्त्र–शस्त्रों की होड़। अस्त्र–शस्त्रों के भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ जारी है। पारस्परिक अविश्वास व शक्ति संतुलन का सिद्धान्त इस समस्या को और अधिक गहरा बनाये हुए हैं। शांति स्थापना, आर्थिक कल्याण, समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान तथा आणविक संकट व पर्यावरण प्रदूषण से बचने के लिए नि:शस्त्रीकरण की अपेक्षा है। नि:शस्त्रीकरण से विश्व शांति सम्भव है और नि:शस्त्रीकरण अनैकान्तिक दृष्टि से विश्व की ओर दृष्टिपात करने से ही सम्भव है। शस्त्रों की होड़ को समाप्त करने के लिए सह–अस्तित्व को समझना होगा और सह–अस्तित्व के सिद्धान्त को अपनाना होगा। दो राष्ट्र एक दूसरे के प्रतिपक्षी होते हुए भी एक साथ रह सकते हैं। विकसित राष्ट्र, विकासशील एवं अविकसित राष्ट्रों से निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व दीर्घकाल तक नहीं बनाए रख सकते। उनकी स्वयं की समृद्धि ही उन्हें समाप्त

कर देगी, इसे समझना होगा। शस्त्रों से शांति संतुलन स्थापित करने की बजाय सापेक्षता एवं सह-अस्तित्व से संतुलन स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए।

3. अहिंसक चेतना का जागरण – आज सर्वत्र हिंसा फैलती जा रही है। हिंसा को प्रश्रय तथा बढ़ावा मिल रहा है तो सिर्फ निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण। 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' इस निरपेक्ष या संकुचित दृष्टिकोण ने ही हिटलर को यहूदियों पर अत्याचार का अवसर दिया। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों के तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान भी निरपेक्ष दृष्टि का ही फल है। इस सन्दर्भ में अहिंसक चेतना का विकास करना होगा। समानता का सूत्र अपनाना होगा। प्राणी मात्र समान हैं, इस सिद्धान्त को समझना होगा जो कि अनैकान्तिक दृष्टिकोण से ही संभव है।

3.7 लोकतंत्र और अनेकान्त

3.7.1 लोकतन्त्र : अर्थ

मनुष्य समस्या और समाधान दोनों के बीच में जी रहा है फिर भी वह प्रयत्न करता है कि समस्याएं कम हों और समाधान ज्यादा हो। इस दिशा में प्रयत्न करते-करते लोकतंत्र का उदय हुआ। लोकतन्त्र आज की समाज-व्यवस्था का एक सर्वमान्य और सर्वोत्कृष्ट शब्द बन गया है। इससे पूर्व अनेक तंत्र बने, पहले कुलतंत्र बना। अनेक कुल थे, प्रत्येक कुल का मुखिया उसका अधिशास्ता था फिर राजतंत्र आया। एक राजा बना और सारी प्रजा बनी। इसके बाद आया- अधिनायक तंत्र, किसी सैनिक ने, किसी शक्तिशाली नेता ने क्रांति की और सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली। वर्तमान युग लोकतंत्र का है। संसार के प्रायः सभी उन्नत एवं सभ्य देश इसी का अनुसरण कर रहे हैं। प्राचीन ग्रीक विद्वानों के अनुसार लोकतन्त्र उसे कहते हैं, जिसमें बहुतों का शासन हो। प्रोफेसर सीली के अनुसार "लोकतन्त्र वह शासन है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति हाथ बंटाता हो।" लार्ड ब्राइस के अनुसार "लोकतन्त्र शब्द का प्रयोग उस शासन-पद्धति के लिये किया जाता रहा है, जिसमें राज्य की शासन-शक्ति किसी विशिष्ट श्रेणी या श्रेणियों में न रहकर सम्पूर्ण जन-समाज के सदस्यों में निहित होती है।"

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने लोकतन्त्र को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है, फिर भी हम उस लोकतन्त्र शासन को कह सकते हैं, जिसमें प्रत्येक नागरिक राजशक्ति के प्रयोग में सहयोग करता हो तथा सहयोग करने का अधिकार रखता हो। वस्तुतः लोकतन्त्र का वास्तविक अर्थ है—"जनता का, जनता के द्वारा एवं जनता पर किया जाने वाला शासन।" लोकतंत्र में सब समान हैं। जाति-रंग और सम्प्रदाय कोई बाधा नहीं हैं। किस रंग का आदमी है, किस जाति का है या किस सम्प्रदाय का है, इसका कोई प्रश्न नहीं। प्रत्येक जाति को समान अधिकार प्राप्त हैं यह समानता का सूत्र लोकतंत्र का प्राण तत्त्व है, मूल आधार है। लोकतन्त्र व्यक्ति को अपनी अन्तर्निहित क्षमता व शक्तियों का पूर्णरूपेण विकास करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इसमें व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार शिक्षा ग्रहण करने और व्यवसाय चुनने की आजादी होती है। लोकतन्त्र इस विश्वास पर खड़ा है कि साधारण लोगों में भी असाधारण लोग पैदा हो सकते हैं। फिर भी लोकतंत्र की कुछ प्रमुख समस्याएं हैं—

3.7.2 लोकतंत्र की समस्याएं

1. अक्षमता का शासन – लोकतंत्र की पहली समस्या है— अक्षमता का शासन। जब दो उम्मीदवार खड़े होते हैं, उनमें एक चरित्रवान है, गुणवान है, भ्रष्टाचार नहीं करता, न झूठे आश्वासन देता है, दूसरा सब तिक्कड़म जानता है, जो चालाक है वह सबसे ज्यादा मत या वोट इक्कठे कर लेगा, उसे ज्यादा वोट मिलेंगे और वह लोकतंत्र का रक्षक बन जाएगा। जहां पर यह प्रवृत्ति है वहां सत्ता को अधिक महत्त्व मिलता है गुणवत्ता को नहीं। जहां गुणवत्ता को महत्त्व नहीं मिलता वहां अक्षम व्यक्ति शासक हो जाता है। दस सक्षम व्यक्ति पूरे शासन को ठीक चला सकते हैं किन्तु सौ अक्षम व्यक्ति शासन को ठीक से नहीं चला सकते। लोकतंत्र में गुणवत्ता को कोई अवकाश नहीं है। संख्या का महत्त्व है। यह लोकतंत्र की एक दुर्बलता है।

2. विकेन्द्री उत्तरदायित्व – लोकतंत्र की दूसरी समस्या है- उत्तरदायित्व का केन्द्रीय न होना। एक राजा है, उसे किसी समस्या के संदर्भ में निर्णय लेना है तो वह पांच मिनिट में निर्णय ले लेता है परन्तु आज लोकतंत्र में कोई समस्या आ जाए तो निर्णय लेते-लेते फाइलों की संख्या बढ़ जाती है। वर्षों तक निर्णय नहीं मिलता, कारण- उत्तरदायित्व केन्द्रित नहीं है।

3. भ्रष्टाचार – लोकतंत्र की तीसरी समस्या है- भ्रष्टाचार। लोकतंत्र में भ्रष्टाचार के लिए काफी अवकाश है। इसमें झूठे आश्वासनों के आधार पर वोट लिए जाते हैं। जनता उन झूठे आश्वासनों पर विश्वास कर गलत व्यक्ति का चुनाव कर लेती है। गलत व्यक्ति जीत जाते हैं और वोटरों को खुश करने के लिए ऐसे भी काम करने लगते हैं जो करणीय नहीं होते। इससे भ्रष्टाचार को पनपने का मौका मिलता है। लोकतन्त्र के तीन मुख्य स्तम्भ हैं—1. विधायिका, 2. कार्यपालिका, 3. न्यायपालिका। लोकतन्त्र के आधार स्तम्भ कहलाने वाले विधायिका, कार्यपालिका के बाद आज न्यायपालिका के भी प्रशासकों की ईमानदारी पर प्रश्न चिह्न लगने लग गये हैं। भ्रष्टाचार के यह बढ़ते कदम तथा मीडिया का दुरुपयोग स्वयं लोकतंत्र के अर्थ को ही समाप्त कर देगा कहना असंगत न होगा।

4. केयास – केयास का अर्थ है— अराजकता। आज हमारे देश में बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहां कोई नियम, कोई अनुशासन नहीं रह गया है। लगता है मनुष्य जी रहे हैं तो इसलिए जी रहे हैं कि मनुष्यों में एक साथ जीने की स्वाभाविक प्रेरणा है। लोकतंत्र की रीढ़ है चुनाव और चुनाव की रीढ़ है घोषणा पत्र। गरीबी हटाओ, महंगाई पर नियंत्रण करो, यह नारा लगाते-लगाते युग बीत गया फिर भी न गरीबी हट रही है और न महंगाई कम हो रही है। जो लोग देश सुधार के वायदे के साथ सत्ता की कुर्सी पर बैठते हैं वही सत्तारूढ़ होने के पश्चात् व्यक्तिगत अहं की लड़ाईयों में उलझ जाते हैं।

5. निर्वाचन का गलत ढंग – जो भी व्यक्ति अपने निर्वाचित मण्डल से बहुसंख्यक वोट अपने पक्ष में प्राप्त कर ले, वह इन सभाओं का सदस्य बन सकता है। जब हम अध्यापन कार्य के लिए अध्यापक की नियुक्ति करते हैं तब हम यह देखते हैं कि वह कार्य के लिए योग्य है या नहीं। जब हम किसी रोगी के इलाज के लिए डॉक्टर की तलाश करते हैं तब भी हम उसकी योग्यता की ओर ध्यान देते हैं। इसी प्रकार इंजीनियर, वकील किसी से भी कार्य लेने से पूर्व उनकी योग्यता की पूरी जांच की जाती है, फिर हम जिन लोगों को देश के लिये कानून बनाने, सार्वजनिक हित की चिन्ता करने और शासकों पर नियंत्रण करने का दायित्व सौंपते हैं, उनके लिए योग्यता पर ध्यान क्यों नहीं देते? येन-केन-प्रकारेण वोटरों से वोट प्राप्त कर पार्लियामेन्ट का सदस्य बन जाने वाले देश या देश की जनता के प्रति बहुत ज्यादा हितकर साबित होंगे कहा नहीं जा सकता। इसलिए लोकतन्त्र की सफलता के लिए निर्वाचन के इस क्षेत्र में किंचित् परिष्कार जरूरी है। इस प्रकार लोकतन्त्र की अपनी अनेक समस्याएँ हैं। राजनीतिशास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने लोकतन्त्र की आलोचना करते हुए उसके दोषों को प्रदर्शित किया। अंग्रेज ऐतिहासिक सर ''हेनरी मेन'' ने तो यहाँ तक कहा है— ''लोकतन्त्र शासन बौद्धिक विकास के लिए अनुकूल नहीं होते। वैज्ञानिक उन्नति भी उनसे सम्भव नहीं होती। उनमें स्थिरता का अभाव होता है, अज्ञानी तथा बुद्धिशून्य व्यक्तियों का उसमें शासन होता है।''

इसमें सन्देह नहीं कि लोकतन्त्र शासन में विविध दोष एवं कमियाँ हैं। परन्तु हमें यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि जिन कमियों व दोषों की हम चर्चा कर रहे हैं, उनके कारण मनुष्य की दुर्बलता, उनकी वृत्तियाँ या स्वार्थपन ही है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए नागरिकों का नैतिक दृष्टि से ऊँचा होना, ईमानदार होना, प्रलोभन से दूर रहना अत्यावश्यक है। इन सबके विकास के लिए अनेकान्तिक दृष्टि बहुत जरूरी है। अनेकान्त एक ऐसा नेत्र है, जिसे अपनाते ही व्यक्ति के विचार बदल जाते हैं, सोचने का ढंग अलग हो जाता है। उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है। वह केवल अपने दायरे तक सीमित न रहकर विशाल दृष्टि से सोचता है। वोट देने वाले लालच में आकर वोट देने के बजाय देश हित की दृष्टि से सोचें, इसके लिए उनकी दृष्टि अनैकान्तिक हो, बहुत जरूरी है।

3.7.3 लोकतंत्र में अनेकान्त की उपयोगिता

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार लोकतंत्र के संदर्भ में अनेकान्त की उपयोगिता को तीन रूपों में व्यक्त किया जा सकता है —

1. वैचारिक संघर्ष का निराकरण,
2. वैचारिक सहिष्णुता,
3. वैचारिक समन्वय

1. वैचारिक संघर्ष का निराकरण– लोकतंत्र में विरोधी पक्षों का होना स्वाभाविक है और उनकी वैचारिक भिन्नता भी स्वाभाविक है। जब तक सोच का स्तर नीचा होता है, समझ विकसित नहीं होती तब तक विचारों की भिन्नता के कारण आपस में कलह,

झगड़े, संघर्ष पैदा होते रहते हैं। संघर्ष का मूल कारण है— सोच का ओछापन। निराकरण का उपाय है — सोच में सापेक्षता को स्थान। सापेक्षता को स्वीकार करने वाला व्यक्ति आग्रह नहीं करता, अपने अहं को पोषण नहीं देता और अपने आपको या अपने विचारों को ही सर्वश्रेष्ठ नहीं मानता।

2. वैचारिक सहिष्णुता- अनेकान्त का दूसरा लोकतन्त्रीय पक्ष है— वैचारिक सहिष्णुता। लोकतन्त्र में दूसरों के विचारों, मतों, अवधारणाओं, रीतिरिवाजों, भाषा, साहित्य आदि के प्रति विशाल दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। एक राजनेता दूसरे राजनेता के विचारों को सम्मान दे। देश के हित में किया गया चिन्तन चाहे विपक्ष की ओर से आया हो, उसे सहर्ष सभी स्वीकार करें। आचार्य महाप्रज्ञ का कहना है— यदि हम दूसरे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र के विचारों, मान्यताओं का आदर करते हैं, उनके प्रति सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करते हैं तो हम देश, समाज व राष्ट्र में सहज ही शांति का वातावरण निर्मित कर सकते हैं।

3. वैचारिक समन्वय - राजनीतिक धरातल पर यदि वैचारिक समन्वय हुआ तो लोकतंत्र की सफलता निश्चित है। वैचारिक समन्वय अर्थात् एक का दूसरे के विचारों के साथ तालमेल बिठाना, संगति बैठाना। यह एक व्यापक दृष्टिकोण है। इसके द्वारा एकता की स्थापना संभव है। इससे सर्वधर्म समभाव का प्रचार कर प्रेम व सौहार्द की भावना को विकसित कर सकते हैं।

इसके अलावा लोकतंत्र की कुछ प्रमुख समस्याएं जिनकी हमने चर्चा की— अक्षमता का शासन, विकेन्द्री उत्तरदायित्व, भ्रष्टाचार आदि। उनका भी निराकरण लोकतंत्र की प्रणाली में थोड़ा परिवर्तन लाकर किया जा सकता है। लोकतंत्र में परिवर्तन लाने का अर्थ है- लोकतंत्र को चलाने वाली सरकार का दृष्टिकोण सम्यक् हो, अनैकान्तिक हो, एकान्तिक या स्वार्थपूर्ति का जो दृष्टिकोण है वह बदले। लोकतंत्र का प्रमुख सिद्धान्त 'प्रत्येक नागरिक समान रहे' अन्य क्षेत्रों की तरह लोकतन्त्र में भी योग्यता का सम्मान हो।

आज लोकतंत्र में भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिल रहा है। नेतृत्व करने वालों का चरित्र यदि उदात्त नहीं तो उज्ज्वल भविष्य की भी कामना नहीं की जा सकती। आवश्यक है राजनेताओं के लिए भी चारित्रिक कसौटियां निर्धारित की जाए। सापेक्षता, अहिंसा में आस्था, अर्थ का संयम, आवेश पर नियन्त्रण करने की क्षमता आदि राजनेताओं के चरित्र के मुख्य तत्त्व बनें। तभी लोकतंत्र व्यवस्था पुष्पित एवं पल्लवित हो सकेगी और संघर्षों का निराकरण हो सकेगा।

बोध प्रश्न-2

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक वाक्य में दीजिये —

(1) स्थानीय शासन किसे कहते हैं?

(2) पश्चिमी अवधारणा के अनुसार शांति क्या है?

(3) लोकतन्त्र की मुख्य समस्याएँ कौन-सी हैं?

(4) विकेन्द्री उत्तरदायित्व का अर्थ क्या है?

(5) लोकतन्त्र का वास्तविक अर्थ क्या है?

2. निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर विस्तार से लिखिये —

(1) राजनीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए राजनैतिक समस्याओं के सन्दर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करें?

(2) विश्व में अशांति पैछा करने वाले कारकों की चर्चा करें?

(3) लोकतन्त्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए, लोकतान्त्रिक समस्याओं परअपने विचार प्रस्तुत करें।

(4) जीवन विज्ञान की उपयोगिता पर समग्रता से अपने विचार व्यक्त करें।

इकाई 4 (क) अहिंसा का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 अहिंसा का स्वरूप
 4.2.1 अर्थ एवं परिभाषाएं
 4.2.2 विभिन्न धर्मों में अहिंसा
4.3 जीवन शैली और अहिंसा
 4.3.1 जीवनशैली : अर्थ
 4.3.2 जीवनशैली के प्रकार
 4.3.3 अहिंसा के दो रूप
4.4 अहिंसा और आहार
 4.4.1 आहार
 4.4.2 आहार के प्रकार
 4.4.3 आहार और हिंसक प्रवृत्तियाँ
 4.4.4 अहिंसा का विकास आहार से
4.5 अहिंसा और आसन
 4.5.1 आसन : अर्थ
 4.5.2 आसन के प्रभाव
4.6 हिंसा : मानसिक तनाव और नशा
 4.6.1 हिंसा
 4.6.2 मानसिक तनाव
 4.6.3 नशा
 4.6.4 नशे का कारण
 4.6.5 नशे का परिणाम : हिंसा

4.0 उद्देश्य

'अहिंसा का सिद्धान्त' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- विभिन्न धर्मों में अहिंसा के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- जीवन शैली में अहिंसा का विकास क्यों और कैसे हो? जान पाएंगे।
- अहिंसा के साथ आहार का क्या संबंध है, व्याख्यायित कर सकेंगे।
- आसनों के द्वारा अहिंसा का विकास कैसे होता है? समझ सकेंगे।
- हिंसा के कारणों को जान पाएंगे।

4.1 प्रस्तावना

अहिंसा की अवधारणा भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही अनेक रूपों और संदर्भों में विकसित होती रही है। 'अहिंसा परमो धर्म:' वास्तव में इस संस्कृति का प्राण तत्त्व रहा है, जिसका प्रमाण भारतीय चिन्तन, दार्शनिक विश्लेषणों, धार्मिक विवेचनों, संगठनों तथा क्रियाकलापों में सरलता से देखा जा सकता है। अहिंसा की अवधारणा आमतौर पर विश्व के सभी प्रमुख धर्मों एवं संस्कृतियों का केन्द्रीय स्तम्भ रही है और प्राय: सभी मानते हैं कि मानव जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए इसकी उपेक्षा नहीं

की जा सकती है। इसी यथार्थ को ध्यान में रखते हुए जीवन विज्ञान में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया गया है। इस इकाई में अहिंसा के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा की जाएगी। विभिन्न धर्मों में अहिंसा का स्वरूप क्या है? आज की जीवनशैली में अहिंसा का विकास कैसे हो? आहार से व्यक्ति के जीवन में अहिंसा के भाव कैसे पनप सकते हैं? आसनों के विविध प्रयोग से अहिंसा कैसे फलित होती है आदि-आदि बातों की जानकारी इस इकाई का अध्ययन करने के बाद जान सकेंगे।

4.2 अहिंसा का स्वरूप

4.2.1 अहिंसा का अर्थ और परिभाषाएं

अहिंसा शब्द का शाब्दिक अर्थ है— हिंसा न करना। अ+हिंसा। इन दो शब्दों से अहिंसा शब्द बना है। वस्तुत: अध्यात्म की आत्मा ही अहिंसा है। प्राचीन ऋषि-महर्षियों से लेकर वर्तमान महापुरुषों ने न केवल अहिंसात्मक भावनाओं पर बल दिया अपितु अहिंसा को आदर्श बनाने का यथासंभव प्रयास भी किया है। भारत में प्राय: सभी दर्शनों में अहिंसा की अवधारणा मिलती है। विभिन्न विद्वानों एवं दार्शनिकों ने अहिंसा को अपनी-अपनी दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास किया है।

भगवान महावीर ने अहिंसा को सभी जीवों के लिए कल्याणकारी देखा। उन्होंने कहा सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन व्यवहार ही अहिंसा है। भगवान महावीर ने हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा— किसी प्राणी पर शासन करना, दास बनाना, किसी प्रकार की पीड़ा देना, सताना, प्रताड़ित करना हिंसा है और उन सबसे बचना, किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन न करना अहिंसा है।

योग दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि पतंजलि अहिंसा के प्रतिफल पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं, ''**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्याग:।**'' अहिंसा प्रतिष्ठ व्यक्ति की सन्निधि में सब प्राणी वैर विहीन हो जाते हैं।

गौतम बुद्ध के अनुसार ''मैत्री, करुणा, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम और सभी जीवों के प्रति दया का भाव ही अहिंसा है।''

आचार्य भिक्षु के अनुसार, ''हिंसा रहित शुद्ध अहिंसात्मक भाव ही अहिंसा है।''

पाश्चात्य विद्वान 'लान्जा डेलवास्टो' के अनुसार ''समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का तिरोभाव ही अहिंसा है।''

प्राय: यह समझा जाता है कि अहिंसा का अर्थ इतना ही है कि किसी की हत्या न की जाए, कष्ट न दिया जाए, हानि न पहुंचाई जाए, अपशब्द न कहा जाए किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

गांधीजी ने बताया है-''अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना, कुविचार न करना, मिथ्या भाषण न करना, द्वेष न करना यह केवल निषेधात्मक अहिंसा है। वस्तुत: अहिंसा का अर्थ विधेयात्मक भी है। प्रेम, सद्भावना, सेवा और आत्मीयता का व्यवहार ही अहिंसा है।''

4.2.2 विभिन्न धर्मों में अहिंसा

संसार के सभी धर्मों के प्रवर्तकों या आचार्यों ने अहिंसा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। हां यह अवश्य है कि समय-समय पर अहिंसा शब्द की व्याख्या बदलती ही है। कभी तो यह बहुत कठोर हुई और कभी बहुत ही नरम पड़ गई, लेकिन समाप्त कभी नहीं हुई। कभी-कभी यह धर्म एवं सम्प्रदाय की सीमा में बंध गयी और कभी-कभी यह मानव धर्म के रूप में भी सामने आयी। विभिन्न धर्मग्रंथों में अहिंसा का स्वरूप निम्न है —

1. हिन्दू धर्म - हिन्दू धर्म को प्राचीनकाल से वैदिक धर्म या सनातन धर्म कहा जाता रहा है। इस धर्म का प्रवर्तन किस महापुरुष ने किया यह मालूम नहीं इसीलिए इसका नाम सनातन धर्म पड़ा। हिन्दू धर्म में गीता और रामायण दो प्रमुख धर्मग्रन्थ हैं। इनमें अहिंसा का सार इस प्रकार है—

गीता - हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथों में गीता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीता में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है। अनेक हिन्दू तथा हिन्द्वेतर इसका पाठ नित्य करते हैं। गीता के सन्दर्भ में यह प्रश्न बहुत बार किया जाता है कि यह ग्रन्थ हिंसा का प्रतिपादन करता है या अहिंसा का? क्योंकि अहिंसावादी एवं हिंसावादी दोनों ही इससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। उदाहरणार्थ महात्मा गांधी गीता के भक्त एवं प्रशंसक थे वहीं चंद्रशेखर आजाद, सरदार भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारी भी गीता को अपने पास रखते थे और इसका नित्य पाठ करते थे। वस्तुत: गीता सत्य की रक्षा के लिए कायरता को समाप्त करती है, कर्त्तव्यों का बोध कराती है। इसलिए यह हिंसावादी व अहिंसावादी दोनों का आदर्श ग्रंथ है।

जिस प्रकार एक सैनिक देश के लिए दुश्मनों का संहार करता है लेकिन वह सैद्धान्तिक रूप से हिंसा करता हुआ भी व्यावहारिक रूप से अहिंसक कहलाता है, ठीक वैसे ही गीता के बारे में कहा जा सकता है कि इसमें सैद्धान्तिक रूप से हिंसा की प्रेरणा होते हुए भी यह व्यावहारिक रूप से एक अहिंसक ग्रंथ है। गीता के अनुसार मन में गुस्से से उबलकर उपवास करने वाला भी जैसे हिंसक हो सकता है, वैसे ही चित्त की समता न डिगने देते हुए शान्तवृत्ति से किसी प्रसंग विशेष पर, अनिवार्य समझकर परिस्थितिवश शारीरिक हिंसा करने वाला भी अहिंसक हो सकता है।

महाभारत में श्रीकृष्ण ने शांतिदूत बनकर युद्ध को रोकने का बहुत प्रयास किया और सिर्फ सारथी के रूप में ही युद्ध में भाग लिया। श्रीकृष्ण का यह मन्तव्य था कि अहिंसा, समता, सन्तोष, दान आदि जितने भी सुकर्म हैं वे सभी मेरे कारण उत्पन्न हुए हैं। प्राणियों को कष्ट न देना, हिंसा न करना अहिंसा है, सुगति का कारण है। इस प्रकार गीता में अहिंसा को मुक्ति का साधन माना गया है।

रामायण - रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम का वर्णन है। रामायण के काफी भाग में राम-रावण के युद्ध का भी वर्णन है। फिर भी यहां ध्यातव्य यह है कि महाकाव्य में युद्धकथा के माध्यम से शांति और अहिंसा की बात भरी हुई है। वहां युद्ध स्वार्थ साधने के लिए नहीं, सत्य और न्याय के लिए लड़ा गया था।

इस महाकाव्य की बहुत बड़ी विशेषता है कि यह महाकाव्य अहिंसा और नैतिक साधनों की सार्थकता को द्योतित करता है। जिस वजह से युद्ध हो रहा है उसमें कहीं पर भी कोई गंदी वासनाएं नहीं है। धन-दौलत को हड़पने की लालसा नहीं है। चाहे वह चरित्र राक्षस रावण का हो या राम का। रावण बलशाली था, आध्यात्मिक पुरुष था, विद्वान था। रावण का जीवन उसके उच्च चारित्रिक गुणों को दर्शाता है, तो दूसरी तरफ राम का जीवन उनकी महानता को दर्शाता है, उन्होंने हर रूप में अपने कर्त्तव्य को निभाया है। यह अहिंसा आदर्श का एक उच्च महाकाव्य है।

2. जैन धर्म- जैनधर्म को अहिंसा धर्म भी कहते हैं। इसमें अहिंसा का पालन बहुत ही सूक्ष्मता पूर्वक होता है। इस धर्म में मांसाहार का पूर्णरूप से निषेध है तथा दैनिक क्रिया-कलापों में भी सूक्ष्म हिंसा से बचने का प्रयत्न किया जाता है। जैनधर्म के साधु-संत नंगे पांव चलते हैं, मुंह पर वस्त्र लगाये रहते हैं। रजोहरण रखते हैं ताकि चलते हुए पैरों के नीचे चींटियां न आ जाएं।

ये साधु सिर्फ शारीरिक अहिंसा को ही महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं बल्कि मानसिक अहिंसा को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। सूक्ष्म मानसिक हिंसा न हो इसका भी पूरा ध्यान रखा जाता है। भगवान महावीर के अनुसार "सभी प्राणियों के प्रति संयम करना ही अहिंसा है।" जैनागमों में अहिंसा का आधारभूत तत्त्व माना गया-आत्मौपम्य की भावना का विकास। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि प्राचीन आगमों में स्पष्ट कहा गया— सभी जीवों को सुख प्रिय है उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है सभी जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें दु:ख अप्रिय लगता ही है, वे सुख का आस्वादन करना चाहते हैं। अत: किसी को पीड़ित नहीं करना, प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखना ही जैनागमों के अनुसार-अहिंसा का आधार है। भगवान महावीर ने न केवल मनुष्य, पशु, पक्षी आदि में अपितु पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु आदि में भी जीवत्व को स्वीकार किया एवं इनका दुरुपयोग न करना, इनके प्रति संयमी रहने को अहिंसा के रूप में स्वीकार किया। महावीर ने यत्र-तत्र अपने अनुयायियों को अहिंसा की प्रेरणा दी एवं अहिंसा को परम धर्म बताया।

3. बौद्ध धर्म - बौद्ध धर्म को अगर हम व्यावहारिक धर्म कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। बौद्ध धर्म ने अहिंसा के निषेधात्मक रूप पर ज्यादा जोर न देकर विधायक पक्ष का प्रचार-प्रसार किया तथा मानव समाज को नैतिक व्यवहार की शिक्षा दी।

बौद्ध धर्म का अहिंसा के क्षेत्र में जो सबसे बड़ा व्यावहारिक प्रभाव रहा है वह है-पशु यज्ञ की लगभग समाप्ति। पशु यज्ञ की समाप्ति भी अहिंसा को जीवन में लाने की पहल थी। उस समय मनुष्य का सम्पूर्ण भोजन पशु ही होने लगा था। इसको कम करने के लिए अहिंसा के प्रचारकों ने जनमानस में यह बात फैलाई कि पशु का मांस खाना पाप है। बुद्ध ने यज्ञ में पशु बलि का घोर विरोध किया, जिसके फलस्वरूप ही आज अहिंसामय यज्ञ हो रहे हैं। बौद्ध धर्म में गृहस्थों के लिए पंचशील नियम हैं—

1. जानबूझकर जीव हिंसा न करना।
2. बिना दी हुई वस्तु को न लेना।
3. काम भोगों में मिथ्या आचार न करना।
4. असत्य वचन न बोलना।
5. शराब आदि मादक द्रव्यों का सेवन न करना।

इन नियमों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। बुद्ध संसार को ''अहिंसा परमोधर्मः'' का संदेश देने वालों में अग्रणी है। बुद्ध ने हिंसा को अनार्य कर्म कहा है। बुद्ध ने भिक्षुओं को संबोधित करते हुए तीन बातों को नरक का और तीन बातों को स्वर्ग का हेतु बताया— ''स्वयं हिंसा करना, दूसरे को हिंसा की ओर ले जाना और हिंसा का समर्थन करना'' ये तीन बातें नरक के हेतु हैं और ''स्वयं हिंसा से विरत रहना, दूसरों को प्राणी हिंसा की ओर न ले जाना और प्राणी हिंसा का समर्थन न करना।'' ये तीन बातें स्वर्ग के हेतु हैं। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अहिंसा को सभी व्रतों का अधिपति बताया गया है।

4. सिक्ख धर्म – सिक्ख धर्म के प्रथम गुरु गुरूनानक थे। उन्होंने पंजाब में पंद्रहवीं सदी में सिक्ख धर्म की स्थापना की थी। इस धर्म ने सनातन धर्म की अच्छी-अच्छी बातों को ग्रहण किया। यह धर्म जाति-पांति में विश्वास नहीं करता है। सिक्ख धर्म की उत्पत्ति 'शिष्य' शब्द से हुई है। इस धर्म के गुरूओं को सभी एशो-आराम की सुविधाएं उपलब्ध थीं फिर भी उन्होंने सादगीपूर्ण जीवन जीया जो अहिंसा की पहली भावना है। गुरू नानक की वाणी से यह स्पष्ट होता है कि यह धर्म अहिंसा में विश्वास करता है—

मांस मांस सब एक हैं, मुर्गी हिरण गाय।
आंख देख नर खात है, ते नर-नर्क दि जाए॥

जो सिर काटे औरों का अपना रहे कटाय।
धीरे-धीरे नानक बदला कही न जाए।

जो बीने सो आसि क्यूं न होवे हानि।
समय पक्ष फल देते हैं नानक निश्चय जानि॥

अतः यह स्पष्ट है कि सिक्ख धर्म में अहिंसा एक आवश्यक अंग के रूप में स्थापित है।

5. इस्लाम धर्म – इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब थे। इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है-शान्ति में प्रवेश करना। मोहम्मद साहब की शिक्षा शांति, प्रेम और भाई-चारे की थी। मोहम्मद साहब ने युद्ध का समर्थन सिर्फ बचाव व आत्मरक्षा के लिए किया। इस्लाम धर्म में अभिवादन के तौर पर ''अस्सलामालेकुम'' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है-आप शान्ति से रहें।

उपरोक्त सभी तथ्य यह दर्शाते हैं कि इस्लाम धर्म की बुनियाद अहिंसा है।

6. ईसाई धर्म – ईसाई धर्म का जन्म यहूदी धर्म से हुआ है। यहूदी धर्म के पवित्र ग्रन्थ 'ओल्ड टेस्टामेंट' का ईसामसीह द्वारा संशोधन कर दिया गया, जिसे न्यूटेस्टामेंट कहते हैं। दोनों ही ग्रन्थों को 'बाइबल' कहा जाता है। ईसामसीह ने अपने प्रवचनों में करुणा की वर्षा की है। वे कहते हैं कि अपने शत्रुओं से प्रेम करो, जो श्राप दे उनको आशीर्वाद दो, जो तुमसे घृणा करे उनके साथ भलाई करो और जो तुम पर अत्याचार करे, तुम्हारे लिए दुर्भावना करे उनके लिए प्रार्थना करो। ईसामसीह का यह कथन प्रेम, करुणा, दया, सहिष्णुता और अहिंसा को दर्शाता है।

ईसामसीह ने अहिंसा को सैद्धान्तिक रूप से स्थापित न करके व्यवहार के धरातल पर उतारने का प्रयास किया। वर्तमान में इनको मानने वाले लोग जगह-जगह चिकित्सा, सफाई, शिक्षा व समाज सेवा में पूर्ण निष्ठा व ईमानदारी से लगे हुए हैं। उनका यह कार्य सेवा के क्षेत्र में एक अतुलनीय एवं व्यवहारिक अहिंसा का सबसे प्रबल उदाहरण है।

ईसामसीह का जीवन अहिंसामय था। सूली पर चढ़ते समय उन्होंने परमपिता परमेश्वर से कहा—''पिता आप इन्हें माफ कर दें क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।'' इस कथन से ईसाई धर्म में अहिंसा की भावना स्पष्ट हो जाती है।

7. पारसी धर्म – ईसा के लगभग 800 वर्ष पूर्व ईरान में एक महापुरुष का जन्म हुआ था, जिन्होंने पारसी धर्म की स्थापना की। उस महापुरुष का नाम था-जरथुस्त। पारसी धर्म को मानने वाले अग्नि की पूजा करते हैं। अहुर पन्द इनके मुख्य इरूट है। अपास्ता इस धर्म का धार्मिक ग्रन्थ है। जरथुस्त ने अपने अनुयायियों से कहा कि इस धरातल पर जितने भी प्राणी है वे सभी पवित्रता के अधिकारी है पर उनके लिए शर्त यही है कि वह अच्छे विचारों, अच्छे वचनों और कार्यों के द्वारा अपने हृदय को पवित्र कर लें तथा प्रत्येक प्राणी के साथ मित्रता का व्यवहार करें क्योंकि मित्रता उनका स्वभाव है।

निश्चित ही पारसी धर्म की उक्त शिक्षाएं अहिंसा के बीज हैं। व्यवहार के धरातल पर भी वर्तमान समय में पारसी धर्म को मानने वालों के द्वारा छल-कपट, धोखाघड़ी, हिंसा की घटनाएं नहीं के बराबर देखने को मिलती हैं।

8. यहूदी धर्म – ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पहले इस धर्म का उदय हुआ था। उस समय फिलिस्तीन इसका मुख्य स्थान था। यह धर्म पश्चिमी एशिया का पहला प्रमुख धर्म था। यहूदी धर्म का मुख्य ग्रंथ ''ओल्डटेस्टामेंट'' है। जिसमें आचार-व्यवहार के सामाजिक व धार्मिक नियम उल्लिखित हैं। ओल्डटेस्टामेंट को पुराना अहर-नामा भी कहते हैं। यह धर्म ग्रंथ अहिंसा को जनमानस में स्थापित करता है।

यहूदी धर्म की शिक्षाएं द्वेष को जड़ से समाप्त करती हैं, प्रेम और स्नेह को बढ़ाती हैं। अहिंसा के पौधे के लिए उर्वरा भूमि का कार्य करती है।

सभी धर्म अपने-अपने अनुयायियों को प्रेम, स्नेह, करुणा, दया, सह अस्तित्व, सहिष्णुता आदि की शिक्षाएं देते हैं। हर धर्म यह चाहता है कि सभी धर्म सामंजस्य के साथ रहे। आवश्यकता इस बात की है कि हम जितना अपने धर्म के स्वरूप से समझते हैं उतना ही दूसरे धर्मों को भी समझने काप्रयत्न करें।

4.3 जीवन शैली और अहिंसा

4.3.1 जीवनशैली : अर्थ

मनुष्य ने जब आदिम युग से निकलकर सभ्यतापरक जीवन जीना प्रारंभ किया तब उसने जीवन को विधिवत् चलाने के लिए विविध प्रकार के नियम कानून बनाए। इन नियमों की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि एक समय एवं स्थान विशेष में जीवन बिताने वाले सभी जीवित प्राणियों की आवश्यकताएं अलग-अलग होती, जिनमें आपस में विरोधाभास एवं संघर्ष की पूरी संभावना थी। संभवत: मनुष्य ने इसी सामाजिक जीवन की सुरक्षा एवं संघर्षों के निराकरण हेतु कुछ नियमों का निर्धारण किया। जिसके अन्तर्गत यह निर्धारित किया गया कि एक समाज विशेष के लोग कब, कहाँ और कौन-कौन सी वृत्तियां करेंगे? किस रूप में एक मनुष्य दूसरे के साथ व्यवहार करेगा? मनुष्य अपने शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक व स्वास्थ्य संबंधी विकास के लिए किस प्रकार की वृत्तियों को अपनाएगा? इन सभी नियमों व उपनियमों को 'जीवन शैली' नाम दिया गया।

सरल शब्दों में कहा जाए तो जीवनशैली का अर्थ है — जीने का ढंग अथवा तरीका। व्यक्ति कैसे जीता है? उसका रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, बोली, विचार सभी जीवनशैली के अन्तर्गत आते हैं।

4.3.2 जीवन-शैली के प्रकार

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की जीवनशैली भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जीवनशैली की भिन्नता का कारण है — रुचि, संस्कार, चिन्तन, धारणा आदि की भिन्नता। इसी आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ ने जीवनशैली को तीन भागों में विभाजित किया है।

1. पदार्थापेक्ष-जो पदार्थ को सब कुछ मानकर चलती है। पदार्थ को सब कुछ मानकर चलने वाले व्यक्ति का ध्यान केवल अच्छा खाने, अच्छे कपड़े पहनने, नई-नई जगह के भ्रमण अर्थात् इन्द्रियों को संतुष्ट करने में ही अटका रहता है।

2. आत्मापेक्ष-जिसमें आत्मा के सिवाय अन्य किसी पर ध्यान नहीं दिया जाता। जो केवल कर्म मल को हटाने में लगा हुआ रहता है। आज भी ऐसे ऋषि मुनि है जो पहाड़ों, गुफाओं में एकान्तवास करते हैं और आत्म-चिन्तन में लगे रहते हैं।

3. उभयापेक्ष-जिस जीवनशैली में पदार्थ एवं चेतना दोनों पर ध्यान दिया जाता है। जिसमें कुछ समय आत्म-शुद्धि में लगता है तो कुछ समय व्यवहार जगत् के लिए सुरक्षित रहता है। उभयापेक्ष जीवनशैली को अपनाने वाला स्वयं के जीने के लिए संघर्ष करता है तो साथ में दूसरों का अहित न हो इसे भी ध्यान में रखता है।

आज अपेक्षा है कि हम केवल पदार्थ के पीछे लगी हुई इस अंधी दौड़ को छोड़कर उभयापेक्ष जीवन शैली को अपनाएं। भोगप्रधान जीवन शैली समस्याओं को पैदा करने वाली होती है। उसमें हिंसा, क्रूरता, शोषण, आक्रमण आदि अवाञ्छनीय तत्वों की प्रधानता रहती है। अच्छी जीवन शैली वो है जो अहिंसा से अनुप्राणित हो।

4.3.3 अहिंसा के दो रूप

आचार्य तुलसी के अनुसार जीवन की दो शैलियां हैं— 1. हिंसा प्रधान 2. अहिंसा प्रधान। आज की जीवन शैली हिंसा प्रधान है, इसमें कोई संदेह नहीं है लेकिन हमें इसे बदलना है और अहिंसा प्रधान जीवन शैली को अपनाना है। इसलिए हमें अहिंसा के व्यापक स्वरूप को समझना होगा। अहिंसा के दो रूप हैं— 1. व्यावहारिक अहिंसा, 2. पारमार्थिक अहिंसा।

व्यावहारिक अहिंसा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहता है तथा मिलजुल कर जीता है। सामाजिक जीवन का अर्थ है संबंधों का जीवन। अनेक संबंध स्थापित हुए हैं पर इन संबंधों का आधार है-स्वार्थ एवं उपयोगिता। मनुष्य में काम है, इसीलिए उसने परिवार बनाया। उसमें स्नेह है, इसीलिए उसने मित्र वर्ग तैयार किया। उसमें अहम् है, इसीलिए विशिष्टता का चयन किया है। ये सारे संबंध स्वार्थ और उपयोगिता के आधार पर बने हुए हैं, इसलिए उन संबंधों के आधार पर जो अहिंसा फलित हुई है, वह केवल व्यावहारिक अहिंसा है। पिता अपने पुत्र एवं पुत्रियों के प्रति स्नेह भाव रखता है। उनकी इच्छाओं की पूर्ति करता है। पुत्र और पुत्रियाँ भी अपने पिता के प्रति आदरभाव रखते हैं। दोनों एक-दूसरे का सम्मान करते हैं। यह व्यावहारिक अहिंसा है। जब तक प्रतिकूल परिस्थितियां नहीं आती, तब तक सामने वाला अच्छा रहता है। ज्योंही थोड़ी प्रतिकूल परिस्थिति आती है, व्यक्ति उछल जाता है, आवेश में आ जाता है फिर सामने वाला कौन है? उसे भान भी नहीं रहता। व्यावहारिक अहिंसा तब तक ही टिक पाती है जब तक प्रतिकूल निमित्त न मिले।

स्वार्थ एवं उपयोगिता की पूर्ति न होने पर हिंसा भड़क जाती है। आज की जीवन शैली व्यावहारिक अहिंसा से प्रभावित जीवन शैली है। इसलिए जब कभी हिंसा भड़क उठती है। एक परिवार में, एक समाज में, एक जाति में और एक सम्प्रदाय में जब कभी हिंसा की चिन्गारियां उछलती नजर आती है। हमारे जीवन की शैली जब तक कोरी व्यावहारिक अहिंसा से प्रभावित रहेगी, तब तक ऐसा होता रहेगा।

पारमार्थिक अहिंसा

पारमार्थिक अहिंसा का आधार है — **सव्व भूयप्प भूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ**। सभी प्राणी को आत्मतुल्य मानना। किसी ने कुछ किया नहीं फिर भी उसकी मदद करना। मेरी मां, मेरे मित्र ने मेरा कार्य किया इसलिए मैं भी उनका करूं यह स्वार्थ से उपजी हुई अहिंसा है। पारमार्थिक अहिंसा वाला कोई स्वयं के साथ अच्छा व्यवहार करें या न करें कोई संबंध हो या न हो सबके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता है। पारमार्थिक अहिंसा की खोज वैज्ञानिक उपकरणों के आधार पर नहीं हो सकती। वह हो सकती है अपनी अन्तरात्मा के अनुसंधानों से। मैं क्या हूं? मेरे भीतर क्या है? किन वृत्तियों के स्तर पर मैं जी रहा हूं? क्या उन वृत्तियों का शमन किया जा सकता है? जब तक यह आध्यात्मिक विश्लेषण नहीं होगा तब तक अहिंसा की खोज संभव नहीं बन पाएगी और सही अहिंसा के अभाव में जीवन शैली का बदलाव भी संभव नहीं होगा। आज अपेक्षा है प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में व्यावहारिक अहिंसा के साथ पारमार्थिक अहिंसा के बीज पनपें।

पारमार्थिक अहिंसा पर आधारित जीवन शैली के ग्यारह सूत्र इस प्रकार दिये गये हैं—

1. व्यावहारिक अहिंसा।
2. अनाक्रमण।
3. विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना।
4. मानवीय एकता में विश्वास।
5. सर्वधर्म सहिष्णु।
6. व्यापार एवं व्यवहार में प्रामाणिकता।
7. आत्म संयम का विकास।
8. चुनाव की शुद्धता।
9. सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय न देना।
10. व्यसन मुक्त जीवन।
11. पर्यावरणीय चेतना का विकास।

हमारी जीवनशैली में अहिंसा आए। व्यक्ति हर परिस्थिति में समभाव रख सके इसके लिए इन ग्यारह नियमों को अपनी जीवनशैली का अंग बनाना जरूरी है। इन नियमों को पालन किये बिना अहिंसा फलदायी नहीं हो सकती। जब जीवनशैली के साथ अहिंसक व्यवहार जुड़ जाता है तब जीवन की अनेक समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं।

बोध प्रश्न-1

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. "समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का तिरोभाव ही अहिंसा है।" किसने कहा?
2. बुद्ध ने किन तीन बातों को स्वर्ग का हेतु बताया?
3. पारसी धर्म में अहिंसा के बीज किस रूप में मिलते हैं?

4. ओल्डटेस्टामेंट का दूसरा नाम क्या है?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. अहिंसा को परिभाषित करते हुए विभिन्न धर्मों में अहिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करें।
2. व्यावहारिक अहिंसा और पारमार्थिक अहिंसा में भेद स्पष्ट करें।
3. अहिंसक जीवनशैली के लिए आवश्यक ग्यारह सूत्रों पर विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत करें।
4. अहिंसक जीवनशैली के लिए कौन से नियम उपादेय हैं, कैसे? सिद्ध करें।

4.4 अहिंसा और आहार

4.4.1 आहार

प्राणीमात्र की मूलभूत आवश्यकता है — आहार, जिसके बिना जीना मुश्किल है। यद्यपि मानव कुछ समय तक खाना खाये बिना रह सकता है परन्तु कुछ ही दिनों के बाद उसके शरीर के पुर्जे ढीले पड़ने लग जाते हैं। कुछ महीनों बाद उसे जीने के लिए निश्चित रूप से आहार चाहिए। आहार से ही शरीर की रचना होती है। रक्त आदि धातुओं का निर्माण होता है। आहार में वह तत्त्व होते हैं जो शरीर के पोषण के लिए जरूरी हैं। रक्त आदि सप्तधातुओं से परे जो ओज है जिसे विद्युत कहा जा सकता है, वह तथा अन्य सारे रसायन भोजन से बनते हैं। वास्तव में शरीर में जितने भी काम केन्द्र, वासना केन्द्र, आवेग केन्द्र और स्मृति केन्द्र हैं वे सारे भोजन प्राप्त करके ही उत्तेजित होते हैं। भोजन के अभाव में शिथिल हो जाते हैं।

जीवन के दो आधारभूत तत्त्व हैं— श्वास और आहार। श्वास का अर्थ है जीवन और आहार का भी अर्थ है जीवन। इन दोनों के बिना जीवन चल नहीं सकता। श्वास बंद तो जीवन की यात्रा सम्पन्न, आहार बंद तो कुछ ही दिनों में जीवन की यात्रा सम्पन्न हो जाती है। आहार जीवन का आधारभूत तत्त्व है। आहार का अहिंसा के साथ भी गहरा संबंध है। अहिंसक चेतना के विकास के लिए आवश्यक है आहार पर ध्यान दिया जाए। आज जिस रूप से हिंसा भड़क रही है, उसके लिए अत्यन्त अपेक्षित है आहार पर ध्यान दिया जाए।

4.4.2 आहार के प्रकार

वस्तुत: स्वास्थ्य की दृष्टि से आहार के दो प्रकारों का वर्णन है-भक्ष्य एवं अभक्ष्य। भक्ष्य आहार में प्राय: उन्हीं पदार्थों को महत्त्व दिया गया जो शक्तिवर्द्धक है जैसे— प्रासुक गेहूँ, चावल, तिल, जौ, चना आदि। भक्ष्य आहार करने से शुभ सात्विक विचार, श्रद्धा, भक्ति, धैर्य, प्रसन्नता के भाव उत्पन्न होते हैं। अभक्ष्य आहार में प्राय: उन्हीं पदार्थों को लिया गया जो कुछ मात्रा में शक्तिवर्द्धक होते हुए भी मनुष्य के लिए खाने योग्य नहीं हैं, जैसे— मांस, मछली, अण्डा, मदिरा आदि। अभक्ष्य आहार का सेवन करने से व्यक्ति रोगी होता है उसके शरीर में कॉलेस्ट्रोल की मात्रा बढ़ जाती है और हिंसक भाव जागृत होते हैं।

योगाचार्यों ने आहार को तीन भागों में विभाजित किया है—

1. सात्विक आहार-सत्व प्रधान आहार को सात्विक आहार कहते हैं। प्रकृति प्रदत्त-अन्न, दालें, फल, सब्जियां एवं मेवे इस श्रेणी में आते हैं। आरोग्य प्रदान करने वाले इस आहार के सेवन से विचार भी पवित्र एवं उन्नत होते हैं। सात्विक आहार लेने वालों का जीवन संयमी और सदाचारी होता है।

2. राजसिक आहार-इस प्रकार के आहार में तेल, घी एवं मसालों की अधिकता होने के कारण शरीर में गर्मी उत्पन्न करता है तथा इससे व्यक्ति आरामतलबी, आलसी व आध्यात्मिक अरुचि वाला होता है।

3. तामसिक आहार-जो आहार बासी, रसहीन तथा रेसे रहित हो वे इस श्रेणी में आते हैं। ये उत्तेजक आहार हैं। मांसाहार एवं मद्यपान इसमें मुख्य हैं। वर्तमान में जंक फूड व फास्ट फूड भी इसी श्रेणी में लिये जा सकते हैं। ये रोगवर्धक आहार हैं। तामसी आहार लेने वालों का स्वभाव क्रोधी एवं उग्र होता है।

इन आहारों के अनुसार शरीर का विकास, मन की निर्मलता प्राप्त होती है। जिस तरह का आहार लिया जाता है उस तरह का प्रतिबिंब अपने व्यवहार में दिखाई देने लग जाता है।

4.4.3 आहार और हिंसक प्रवृत्तियाँ

राजसिक और तामसिक दोनों ही प्रकार के आहार हिंसा के मूल हैं, हिंसा के लिए उत्तरदायी हैं। प्राचीनकाल में योद्धाओं और हिंसकों के लिए मांस-मदिरा की छूट थी क्योंकि क्रूर हुए बिना दूसरों का सरेआम कत्ल करना आसान नहीं था। योद्धा को क्रूर होना होता है तभी वह अपने शत्रुओं को घास की भांति काट सकता है, इसलिए उनके लिए तामसिक भोजन की उपयोगिता बताई गई है। इसका अर्थ यह हुआ कि हिंसक प्रवृत्तियों के लिए राजसिक और तामसिक भोजन उत्तरदायी है।

आदमी जो भोजन करता है उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं। भोजन के द्वारा मस्तिष्क में न्यूरोट्रांसमीटर बनते हैं जो तंत्र के संप्रेषक होते हैं। वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के न्यूरोट्रांसमीटर का पता लगाया है। ये सारे भोजन से बनते हैं। भोजन के द्वारा एमीनो एसीड जैसे अनेक प्रकार के एसीड बनते हैं। यूरिक एसीड जहर है, वह भी भोजन में बनता है। जिस भोजन से विष अधिक बनता है वैसा भोजन करने पर मानसिक समस्याएं पैदा होती हैं, भावनात्मक उलझनें बढ़ती हैं, हिंसा की वृत्ति बढ़ती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि आदमी चिड़चिड़ा होता है, इसके पीछे एक कारण है विटामिन बी की कमी। यह कमियां व्यक्ति को हिंसक भी बना देती है। व्यक्ति के शरीर की रक्तधारा में चीनी की अत्यधिक कमी हो तो वह व्यक्ति हत्यारा तक बन जाता है। आदमी का मूड़ बिगड़ता है, इसके पीछे एक कारण है 'टिप्टोफन' और 'सेराटॉनिक' की कमी।

आजकल मांसाहार भी बहुत प्रचलित है। मनुष्य यह सोचता है कि मांसाहार से अधिक प्रोटीन की प्राप्ति होती है परन्तु वह यह नहीं जानता कि मांसाहार करना अनावश्यक प्रोटीन का उपयोग करना है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक दिन में 10-15 ग्राम प्रोटीन आवश्यक होता है पर मांसाहार करने वाले या अण्डा खाने वाले अधिक प्रोटीन खाते हैं जो कि रोगों को आमंत्रण है क्योंकि प्रोटीन में भी प्राणीज्म प्रोटीन अत्यन्त हानिकारक होता है, वनस्पति प्रोटीन उपयोगी होता है। वह भी उपयुक्त मात्रा में लिया हुआ। बाजरे से जो प्रोटीन प्राप्त होता है उसके सामने मांस का प्रोटीन नगण्य है, हानिकारक है और हिंसक प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाला है।

4.4.4 अहिंसा का विकास आहार से

जैसे आहार हिंसा में निमित्तभूत बनता है, वैसे ही आहार और अहिंसक प्रवृत्तियों का भी गहरा संबंध है। आहार के संदर्भ में कहा गया-''जैसा खाए अन्न वैसा होए मन'', ''खानपान जैसे अरमान'' इन कहावतों से साबित होता है कि आहार का हमारे शरीर, मन और भावों पर गहरा असर होता है। आहार शुद्धि से विचार शुद्धि और मुक्ति की प्राप्ति भी हो सकती है अत: हमें आहार के संबंध में जागरूक होना चाहिए। अहिंसा के विकास के लिए आहार के संदर्भ में निम्न बातों पर ध्यान देना अपेक्षित है—

1. विषयुक्त भोजन का निषेध – हम जो भोजन करते हैं, उसमें दो प्रकार के द्रव्य पाए जाते हैं-अम्ल और क्षार। आज अम्लांत भोजन अधिक है और क्षारांत भोजन कम। शरीर क्रिया वैज्ञानिक कहते हैं —''When the diet contains a large amount of Protein, Cellular Metabolism produces more acids than fates.'' अर्थात् जब भोजन में प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है, तब कोशिकाएँ एसिड का उत्पादन बढ़ा देती हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि अहिंसक चेतना के जागरण के लिए आहार पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। अम्लीय भोजन विष द्रव्य को बढ़ाता है। विष द्रव्य से अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं। व्यक्ति के भीतर हिंसक भावनाएँ जन्म लेने लगती हैं। आवश्यकता है विषयुक्त भोजन का सेवन कम किया जाए।

2. सात्विक भोजन – राजसिक और तामसिक भोजन हिंसा को बढ़ावा देते हैं, इसलिए आवश्यक है हमारा भोजन सात्विक बने। सात्विक भोजन करने वालों के मन में करुणा के प्रभाव होते हैं। वह दूसरों को मार नहीं सकता, हिंसक प्रवृत्तियों में भाग नहीं ले सकता। वहीं तामसिक भोजन करने से बुद्धि विकृत हो जाती है। वह सही-गलत का निर्णय नहीं कर सकता। सात्विक भोजन करने से मस्तिष्क एवं ज्ञान तंतु का शमन होता है। शरीर के रसों में ऐसे रासायनिक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जिनसे शरीर व मन की तुष्टि तथा पुष्टि होती है।

3. अनाहार – हिंसा पर अंकुशता का एक उपाय है- अनाहार। भोजन से शरीर में विषद्रव्य जमा होते हैं। जब संचित जहरीले द्रव्यों का जमाव शरीर में अधिक हो जाता है तब व्यक्ति थोड़े से परिश्रम में थककर चूर हो जाता है। विभिन्न रोगों से जल्दी ही आक्रान्त हो जाता है और हिंसक प्रवृत्तियों में भी उसकी मन:स्थिति बढ़ने लगती है। विष द्रव्यों को निष्कासित करने का एक अच्छा उपाय है- उपवास या अनाहार। अनाहार के आध्यात्मिक व वैज्ञानिक दोनों लाभ हैं। इससे शरीर में विजातीय द्रव्य एकत्र नहीं होते। जिगर, आंत

आदि सभी अंगों पर अनुकूल प्रभाव रहता है। कोरा आहार मस्तिष्क को दूषित करता है। दूषित मस्तिष्क हिंसा के लिए उद्यत होता है अत: अनाहार रहना भी जरूरी है।

4. रसों का निषेध – भगवान महावीर ने कहा–''रसापगामं न निसेवियव्वा।'' छ: प्रकार के रस बताए गये हैं–दूध, दही, नवनीत, तेल, घी, चीनी आदि। इनका अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, ये रस विकार पैदा करते हैं। आदमी को उत्तेजित करते हैं, जिससे काम–वासनाएं उभरने लगती हैं। कामीपुरुष हिंसा करने से नहीं हिचकिचाता।

5. भावनात्मक स्वास्थ्य – तीन शब्द हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। उपाधि का अर्थ है—भावनात्मक बीमारी। काम, क्रोध, अहम्, ईर्ष्या, माया, लोभ ये सब भावनात्मक बीमारी हैं, उपाधि से संबंधित हैं। इन दोषों के कारण ही व्यक्ति में हिंसक भावनाएं प्रज्ज्वलित होती हैं। भावनाओं का भोजन के साथ गहरा संबंध है पर इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। इसीलिए हमारे आहार का पैरामीटर है–स्वादिष्ट, दिखने में सुन्दर, चटपटापन आदि। आवश्यकता है हमारे भोजन का पैरामीटर बने–भावनात्मक स्वास्थ्य। भावनात्मक स्वास्थ्य की दृष्टि से लिया गया आहार कभी हिंसा का कारण नहीं बन सकता।

4.5 अहिंसा और आसन

4.5.1 आसन : अर्थ

आसन शब्द 'आस्' धातु से बना है जिसका अर्थ है किसी निश्चित अवस्था में लम्बे समय तक सुविधापूर्वक जितने समय तक ठहर सके ठहरना या ठहरने का अभ्यास करना। पतञ्जलि ने कहा—''**स्थिरसुखमासनम्।**'' योगासन एक बहुत पुरानी विद्या है। हठयोग में आसनों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा में भी आसनों का बहुत महत्त्व है। आसनों के प्रति सामान्य अवधारणा यह रही है कि आसन करने से शरीर स्वस्थ रहता है, सुडौल एवं स्फूर्तीला होता है परन्तु यह भी सत्य है कि आसनों का प्रभाव हमारे शरीर, मन और भावों पर भी पड़ता है।

आज की सबसे बड़ी समस्या है—हिंसा। छोटी–छोटी बातों को लेकर व्यक्ति हिंसक प्रवृत्तियों पर उतर आता है। दिन दहाड़े निर्दोष व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा जाना, आतंक , मारपीट, लूट–खसोट, हिंसा के घिनौने उदाहरण हैं। हिंसा एक नकारात्मक भाव है। यह पैदा होता है ग्रन्थि तंत्र में और समाज व राष्ट्र के स्तर पर समस्या पैदा करता है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को खत्म करने में आसनों का बहुत महत्त्व है। वस्तुत: हिंसा और अहिंसा का संबंध अनेक घटकों से है। हिंसा की वृत्ति बढ़ने में अनेक तत्व काम करते हैं। अहिंसा के विकास में भी अनेक तत्व काम करते हैं। उनमें से एक उपयोगी तत्व है— आसन। अहिंसा और आसनों का गहरा संबंध है, क्योंकि आसनों से नाड़ी तंत्र और ग्रंथि तंत्र के रसायनों में सकारात्मक परिवर्तन होते हैं। हिंसा और अहिंसा की अभिव्यक्ति का संबंध हमारी मुद्राओं से भी है। हम किस प्रकार बैठते हैं? किस प्रकार खड़े होते हैँ? किस प्रकार सोते हैं? इनके साथ भी उसका संबंध जुड़ा हुआ है। मुद्राओं से भी न केवल मांसपेशियां सक्रिय और स्वस्थ बनती है। अपितु इनके द्वारा नाड़ी तंत्र और ग्रन्थि तंत्र भी प्रभावित होते हैं तथा भावनाओं पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। इसीलिए अहिंसा के विकास में आसनों का महत्वपूर्ण स्थान है।

4.5.2 आसन के प्रभाव

1. एसिड का संतुलन – हमारे शरीर में बहुत प्रकार के एसिड बनते हैं, उनकी मात्रा बढ़ती है तो संतुलन बिगड़ता है। आयुर्वेदाचार्यो के अनुसार एसिड अर्थात् अम्ल व्यक्ति के पित्त को प्रभावित करते हैं। जब पित्त प्रकुपित होता है तब व्यक्ति का स्वभाव उग्र हो जाता है। आदमी की मनोवृत्ति बिगड़ जाती है, वह क्रोधी, अपराधी क्रूर और हत्यारा तक बन जाता है। जब हमारे रक्त में, मस्तिष्क में, मूत्र में एसिड की मात्रा बढ़ जाती है तब व्यक्ति हिंसक बन जाता है। आसनों के द्वारा अम्ल में संतुलन स्थापित किया जा सकता है और एक अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

2. रसायनों का परिवर्तन – हमारे शरीर में कुछ ऐसे सूक्ष्म रसायन हैं जो हमारे विचारों और भावों को प्रभावित करते हैं। पिच्यूटरी, पीनियल, थायराइड और एड्रीनल इन चार ग्रंन्थियों के स्राव मनुष्य को बहुत प्रभावित करते हैं। इनका स्राव बहुत थोड़ा सा होता है परन्तु ये स्राव हमारे विचारों और भावों को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। आसनों के द्वारा इन रसायनों का संतुलन किया जा सकता है। ये स्राव हमारी हिंसक प्रवृत्तियों के कारण न बने, इसके लिए आसनों पर ध्यान देना अत्यन्त अपेक्षित है।

3. विष निष्कासन का साधन – स्वयं को बदलने के अनेक उपाय है तथा हिंसक से अहिंसक बनने के भी अनेक उपाय हैं।

उन उपायों में आसन भी एक महत्वपूर्ण उपाय है। आसनों के अभ्यास से उस तंत्र को बदला जा सकता है जो हिंसा का तंत्र है। हमारे शरीर में एकत्रित होने वाले अनेक विजातीय तत्वों को आसनों के द्वारा बाहर निकाला जा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में—शरीर में जो विष जमा होते हैं उन्हें निकालने का एक उपाय है—उपवास, तो दूसरा उपाय है-आसन। आसन करते समय शरीर को आगे, पीछे, दायें, बायें खींचा जाता है, जिससे विषैले पदार्थों का निरसन होता है।

4. नाड़ी तंत्र पर नियंत्रण – हिंसा का संबंध जिस प्रकार ग्रन्थि तंत्र से है, उसी प्रकार नाड़ी तंत्र से भी है। नाड़ी तंत्र को संतुलित बनाए रखने में या सुचारू रूप से संचालित करने में आसनों का महत्वपूर्ण योगदान है। नाड़ी तंत्र का संचालक है— मस्तिष्क। मस्तिष्क जैसा आदेश देता है वैसा ही कार्य निष्पन्न होता है। मस्तिष्क को स्वस्थ एवं संतुलित रखने के लिए रक्त की एवं ग्लूकॉज की पर्याप्त मात्रा में पूर्ति जरूरी है। जब व्यक्ति सर्वांगासन, शीर्षासन जैसे विविध आसन करता है तब मस्तिष्क में रक्त एवं ग्लूकॉज पर्याप्त मात्रा में पहुंचकर उसे स्वस्थ बनाए रखते हैं। जिसके कारण क्रियावाहियों को उत्तेजित होने का मौका ही नहीं मिलता वह शान्त भाव से कार्यों का निपटारा कर लेती है।

5. तनाव – तनाव आज के युग की बहुत बड़ी समस्या है। गरीबी, बेरोजगारी, सन्तान का दु:ख ऐसे अनेक कारण हैं जो व्यक्ति के भीतर तनाव पैदा करते हैं। तनाव व्यक्ति के भीतर हिंसा के भाव पैदा करता है। तनाव से ग्रस्त व्यक्ति हिंसा करता है। हिंसा के निरसन का एक उपाय है— तनाव। तनाव को दूर करने का या तनाव से मुक्ति पाने का एक महत्त्वूर्पण उपाय है— आसन। आसन व्यक्ति को ऐसी शक्ति प्रदान करता है जिससे व्यक्ति नकारात्मक भावों पर नियन्त्रण कर सकता है। फलस्वरूप अहिंसक चेतना का निर्माण होता है।

4.6 हिंसा : मानसिक तनाव और नशा

4.6.1 हिंसा : अर्थ

'हिंसा' शब्द से हम सभी परिचित हैं। हिंसा शब्द कहते ही हमारे सामने किसी के द्वारा किसी को मारने का, हत्या करने का दृश्य आ जाता है। आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'प्रमत्त योग से प्राणों के व्यपरोपण' को हिंसा कहा है तो आचार्य अमृत चन्द्र ने 'कषाय के वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भाव रूप प्राणों का घात करना' हिंसा माना है। वस्तुत: हिंसा का अर्थ बहुत व्यापक है। केवल प्राण वियोजन करना ही हिंसा नहीं है। अपनी अशुभ प्रवृत्ति अर्थात् राग-द्वेष युक्त कोई भी प्रवृत्ति हिंसा है। हम सूक्ष्म जीवों की हिंसा की चर्चा छोड़ें। आज अनेक देशों में आतंकवाद फैला हुआ है। दिन-दहाड़े सड़कों पर चलते व्यक्ति को कार सहित उड़ा दिया जाता है। अनेक बेगुनाहों को चंद पैसों के खातिर मौत के घाट उतार दिये जाते हैं। बच्चों का अपहरण कर उन्हें खत्म कर देना, व्यावसायिक संबंध अच्छे न होने पर मौत की धमकियां आज सामान्य बात बनी हुई हैं।

आज की बढ़ती हुई इन हिंसक प्रवृत्तियों की ओर ध्यान दिया जाए तो पता चलेगा कि इन हिंसाओं के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं। परन्तु यहां हम मुख्य रूप से दो कारण की चर्चा करेंगे— **मानसिक तनाव और नशा**। मानसिक तनाव और नशे से ग्रस्त व्यक्ति हिंसा करता है या हिंसा करने से नहीं हिचकिचाता। इसलिए हिंसा का निवारण करने के लिए हमें इन दोनों को समझना एवं इनका निवारण करना होगा।

4.6.2 मानसिक तनाव

'तनाव' शब्द हमारी दिनचर्या का एक अंग बनता जा रहा है फिर भी इसकी सटीक परिभाषा नहीं दी जा सकती। विभिन्न विद्वानों ने इसे विभिन्न रूपों में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

चिकित्सा विज्ञान के अनुसार तनाव शरीर की मांग के प्रति की जाने वाली प्रतिक्रिया है जो शारीरिक अथवा मानसिक, सच्ची अथवा झूठी हो सकती है जिससे एड्रेनलिन तथा नान एड्रेनलिन द्रव्य प्रवाहित होने लगता है।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार—"जब दिन-प्रतिदिन से जुड़ी समस्याएं आप पर हावी हो जाएं तथा आपके संसाधन उनका समाधान न कर पाएं तो हम स्वयं को तनाव में पाते हैं।" परन्तु इन परिभाषाओं से तनाव क्या है? स्पष्ट कह पाना मुश्किल है।

फिर भी सरल शब्दों में कहा जाए तो तनाव का सीधा सा अर्थ है—"साम्यावस्था का असंतुलन।" हमारे शरीर के प्रत्येक अवयव, स्वतंत्र एवं एक निश्चित अनुपात में कार्य करते हैं। जब कभी किसी बाह्य परिस्थितियों के कारण शरीर की साम्यावस्था में असंतुलन पैदा होता

है अर्थात् अवयवों एवं तंत्रों के कार्य करने की अनुपात में असंतुलन पैदा होता है तो उसे हम 'तनाव' कहते हैं। तनाव मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं-शारीरिक तनाव, मानसिक तनाव एवं भावनात्मक तनाव। हिंसा के संदर्भ में हमें मानसिक तनाव को समझना होगा। जब मन के स्तर पर किसी प्रकार का असंतुलन होता है तब वह मानसिक तनाव कहलाता है। मानसिक तनाव बहुत बड़ा कारण है— हिंसक प्रवृत्तियों का। प्रतिस्पर्धा के इस युग में हिंसा एक बहुत बड़ी समस्या बन रही है। छोटी मोटी हिंसा तो दूर आज बड़ी-बड़ी हिंसाएं करने में भी मानव मन हिचकिचाता नहीं। मानसिक तनाव जब तीव्र होता है तब कई बार उस तनाव से उत्कंठित, पीड़ित तथा अधीर व्यक्ति हिंसा पर उतारु हो जाता है।

वस्तुत: हमारे मस्तिष्क के दो भाग हैं— बायां मस्तिष्क तथा दायां मस्तिष्क। जिसे दूसरे शब्दों में मुख्य भाग तथा भावनात्मक भाग भी कहा गया है। हमारे मस्तिष्क का बायां भाग ज्ञान का विशाल भण्डार है। यह भाषा, तर्क, गणित आदि के लिए होता है। यह शीघ्रता से प्राप्त जानकारी को अपने भीतर संजो लेता है तथा उचित समय पर प्रकट करता है। मस्तिष्क का दूसरा भावनात्मक भाग, लिंबिक सिस्टम व हायपोथेलेमस का ऐसा क्षेत्र है जहां क्रोध, दु:ख, आवेग, शोक, कामेच्छा, लालसा, हिंसा आदि के मनोवेग प्रकट होते हैं। पीनीयल ग्लैण्ड इन सारी वृत्तियों को नियंत्रित रखता है। मस्तिष्क के भावनात्मक भागों में जब किसी से असंतुलन पैदा होता है तब यह सारी वृत्तियां व्यवहार में प्रकट हो जाती हैं। मानसिक तनाव एक बहुत बड़ा कारण है भावनात्मक मस्तिष्क में असंतुलन पैदा करने का। व्यक्ति हमेशा प्रिय का संयोग, अप्रिय का वियोग चाहता है। वो चाहता है कि वो जो चाहता है वे सारी इच्छाएं उसकी पूरी हो और जब ऐसा नहीं होता और किसी परिस्थिति के कारण जब उसकी इच्छाओं पर अंकुश लगता है तब मानसिक तनाव पैदा हो जाता है और यह मानसिक तनाव मस्तिष्क के भावनात्मक भाग को आंदोलित करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति में क्रोध, हिंसा आदि के भाव पैदा होते हैं और वह चाहते हुए अथवा न चाहते हुए हिंसा कर बैठता है।

4.6.3 नशा

हिंसा का दूसरा प्रमुख कारण है— नशा। नशा एक बहुत बुरी आदत है। बौद्धों के पंचशील में पांचवां शील सुराविरमण ही है। महाभारत में कहा गया— सुराज्य वही है, जहां कदर्य, कृपण और मद्यप नहीं है। जिस परिवार, समाज व देश में मद्यपान करने वाले लोग अधिक होते हैं वह देश व समाज पतनोन्मुखी होता है क्योंकि नशा करने वालों का चित्त भ्रान्त हो जाता है। एक संस्कृत कवि ने कहा- ''चित्तभ्रान्ति: जायते मद्यपाना'' और भ्रान्तचित्त वाला अनेक पापों में प्रवृत्त होता है। शास्त्रों में नशा करने वालों की गति दुर्गति होती है, ऐसा भी कहा गया है। नशीली दवाइयों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में किया गया नशा एक बार व्यक्ति को चेतन अवस्था से अचेतन अवस्था में पहुंचा कर सुखानुभूति एवं आनंद प्रदान करता है परन्तु धीरे-धीरे इससे व्यक्ति का मस्तिष्क खोखला हो जाता है। मस्तिष्कीय कार्य-क्षमता क्षीण हो जाती है।

4.6.4 नशे का कारण

यद्यपि प्राय: इस बात से सभी अवगत है कि नशा शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक सभी दृष्टियों से हानिकारक है फिर भी आज नशा करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। स्कूलों और कॉलेजों में अध्ययनरत छोटे-छोटे युवक भी बीड़ी, सिगरेट, चरस, गांजा एवं बहुत बार शराब पीते हुए दिखाई देते हैं। हमारा बुजुर्ग वर्ग भी इससे दूर नहीं है। प्रश्न होता है आखिर नशा करने वालों की संख्या बढ़ने के पीछे क्या कारण है?

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार नशा करने के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं। इसका एक प्रमुख कारण है— मानसिक तनाव। मानसिक तनाव और नशे में कारण कार्य का संबंध है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने आपको समाज से अलग नहीं रख सकता और इसी में अपना दु:ख दर्द बांटकर जीने की तमन्ना रखता है परन्तु कभी कभी जब सामाजिक जीवन के क्रियाकलाप महत्त्वपूर्ण होते हैं तब व्यक्ति पीछे छूट जाता है। समाज को व्यक्ति की इच्छा एवं चाह से कोई मतलब नहीं रहता तब व्यक्ति का भी समाज के साथ कोई संबंध नहीं रहता और समाज एवं व्यक्ति के बीच फासला बढ़ जाता है। यह फासले व्यक्ति में तनाव पैदा कर देते हैं। उसका मानसिक तनाव बढ़ता जाता है परन्तु जब तनाव को बांटने वाला उसे कोई नहीं मिलता तब वह अपनी समस्याओं को अपने तनाव को नशे के साथ बांटने की कोशिश करता है और धीरे-धीरे नशे का आदी हो जाता है। इस प्रकार नशा करने के पीछे मानसिक तनाव का बहुत बड़ा हाथ रहता है, कहना असंगत नहीं होगा। वैज्ञानिक शोधों के द्वारा यह भी सिद्ध किया गया है कि जिस देश में जितना अधिक व्यावसायिक एवं औद्योगिक विकास हुआ है, वहां उतना ही मानसिक तनाव का स्तर बढ़ा है और जितना अधिक मानसिक तनाव बढ़ा है उतनी ही उस

देश में नशा करने वालों की संख्या एवं आत्महत्याएं बढ़ी है।

नशा करने वाले पागल या नासमझ नहीं होते। यद्यपि कुछ लोग नासमझी एवं मूर्खतावश भी नशा करते हैं किन्तु बहुत सारे लोग समझदार होते हुए भी नशा करते हैं, इसका कारण मानसिक तनाव ही है।

सामाजिक जीवन में मान-अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा, अर्थाभाव, दु:ख-क्लेश, अवसाद आदि चलते ही रहते हैं। ये समस्याएं मन में तनाव पैदा करते हैं। संताप पैदा करती है। आदमी नहीं चाहता कि वह तनाव का जीवन जीए, इसलिए नशा करना शुरू कर देता है क्योंकि नशा करने से सारे तनाव एक साथ कुछ देर के लिए समाप्त हो जाते हैं। व्यक्ति अपनी परेशानियों को कुछ समय के लिए भूल जाता है।

4.6.5 नशे का परिणाम : हिंसा

वैसे तो अवसाद, अकर्मण्यता आलस्य, मतिभ्रम और स्नायविक दुर्बलता — ये सारे नशे के ही दुष्परिणाम है। शराब ज्यादा पीने से लीवर खराब हो जाता है। तम्बाकू खाने-पीने से फेफड़े और हृदय को कैंसर का खतरा रहता है। कोई भी नशीला पदार्थ ऐसा नहीं है जो शरीर के किसी-न-किसी अवयव को क्षतिग्रस्त या विनिष्ट न करता हो।

शारीरिक दुष्परिणामों से भी ज्यादा खतरनाक है इसके द्वारा चेतना को विकृत किया जाना चूंकि विकृत चेतना हिंसा को जन्म देती है। जब व्यक्ति नशा करता है तब उस नशे में ऐसे विषैले तत्व होते हैं जो मस्तिष्क को भी क्षतिग्रस्त कर देते हैं। मस्तिष्क का स्वयं पर ही नियंत्रण नहीं रहता। मस्तिष्कीय नियंत्रण के अभाव में व्यक्ति सामाजिक नियमों को तोड़ता है, अपराधी बन जाता है और ऐसी हिंसक प्रवृत्तियों में भाग लेता है जिसमें उसको कतइ भाग नहीं लेना चाहिए था। कोई भी समझदार नागरिक समाज के नियमों को नहीं तोड़ता। वो जानता है सामाजिक व्यवस्था को भंग करना अपराध है, हिंसा है। नशे का आदी चोरी, डकैती, हत्या, बलात्कार आदि-आदि जितने भी अपराध है, हिंसक प्रवृत्तियां है, उसमें भाग लेता है क्योंकि ये सभी कार्य विकृत चेतना एवं अनियंत्रित मस्तिष्क के परिणाम है। नशा व्यक्ति की चेतना को विकृत एवं मस्तिष्क को अनियंत्रित करती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति हिंसक बन जाता है। बहुत बार देखा जाता है व्यक्ति शराब पीकर घर पर आता है और बिना वजह के अपनी पत्नी पर अत्याचार करता है। अपने बच्चों को मारता-पीटता है। यह सब क्या है? हिंसा व नशे का परिणाम। अत: हिंसक प्रवृत्तियों को समाप्त करने के लिए हमें मानसिक तनाव और नशे से दूर रहने का प्रयास करना होगा।

बोध प्रश्न-2

1. हमारे रक्त और मस्तिष्क में जब एसिड की मात्रा बढ़ जाती है —

(1) तब व्यक्ति शान्त हो जाता है।

(2) तब व्यक्ति हिंसक बन जाता है।

(3) तब व्यक्ति प्रसन्नता से भर उठता है।

2. तनाव का एक अर्थ है —

(1) साम्यावस्था का असन्तुलन

(2) मानसिक प्रतिक्रिया

(3) भीतरी अवयवों का क्षतिग्रस्त होना

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें —

1. अहिंसा प्रधान जीवनशैली के लिए किन-किन सूत्रों की आवश्यकता है, स्पष्ट करें।
2. अहिंसक चेतना जागरण के लिए आहार के सन्दर्भ में किन-किन बातों का ध्यान रखना जरूरी है?
3. अहिंसा और आसन पर एक लेख लिखें।
4. नशे में द्युत व्यक्ति हिंसा करता है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? यदि हाँ तो स्पष्ट करें, कैसे?
5. नशे का एक बहुत बड़ा कारण है — मानसिक तनाव। सिद्ध करें।

इकाई 4 (ख) अहिंसा : नि:शस्त्रीकरण और शांति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 नि:शस्त्रीकरण-शस्त्र परिसीमन
4.2.1 नि:शस्त्रीकरण : अर्थ
4.2.2 नि:शस्त्रीकरण और विश्वशांति
4.2.3 भगवान महावीर और नि:शस्त्रीकरण
4.2.4 नि:शस्त्रीकरण के उपाय
4.2.5 शस्त्र विवेक
4.3 युद्ध और अहिंसा
4.3.1 युद्ध : एक समस्या
4.3.2 युद्ध के कारण
4.3.3 युद्ध से बचने का उपाय : अहिंसा
4.4 अहिंसात्मक प्रतिरोध
4.4.1 अहिंसात्मक प्रतिरोध : अर्थ
4.4.2 अहिंसात्मक प्रतिरोध की आवश्यकता
4.4.3 अहिंसा का विरोधी पक्ष पर प्रभाव
4.4.4 अहिंसक प्रतिरोधी के आवश्यक गुण
4.5 पर्यावरण और अहिंसा
4.5.1 पर्यावरण : अर्थ
4.5.2 पर्यावरण : कारक
4.5.3 पर्यावरण असंतुलन के कारण
4.5.4 पर्यावरण सुरक्षा और अहिंसा
4.6 अहिंसा प्रशिक्षण
4.6.1 अहिंसा प्रशिक्षण की संभाव्यता
4.6.2 अहिंसा प्रशिक्षण के सूत्र
4.6.3 अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम
4.6.4 अहिंसा प्रशिक्षण के दो पहलू

4.0 उद्देश्य

'अहिंसा नि:शस्त्रीकरण और शांति' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- नि:शस्त्रीकरण का अर्थ जान सकेंगे।
- नि:शस्त्रीकरण से विश्व-शांति सम्भव है जान पाऐंगे।
- भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त नि:शस्त्रीकरण के उपायों से परिचित हो सकेंगे।
- युद्ध का उपचार अहिंसा है समझ सकेंगे।
- शस्त्र क्या है, व्याख्यायित कर सकेंगे।
- अहिंसात्मक प्रतिरोध क्या है समझ सकेंगे।

- अहिंसात्मक व्यवहार का प्रभाव दूसरों पर कैसे पड़ता है जान पाएगें।
- पर्यावरण की सुरक्षा अहिंसा से की जा सकती है समझ सकेंगे।
- अहिंसा प्रशिक्षण क्या है? जान पाएगें।
- अहिंसा प्रशिक्षण के सूत्रों से परिचित हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

हिंसा आज की व्यापक समस्या है। हिंसा का सूक्ष्म अर्थ है अपनी आत्मा का हनन करना। हिंसा करने वाला दूसरों का अहित बाद में करता है। अपने दुश्चिंतन से अपना अहित पहले ही कर लेता है। एक निषेधात्मक चिन्तन से शरीर की हजारों कोशिकाएँ नष्ट हो जाती हैं। इससे स्वत: सिद्ध है कि हिंसा करने वाला दूसरे का वध करने से पहले स्वयं का वध करता है, स्वयं को हानि पहुंचाता है। वह दूसरों को नहीं मारता, स्वयं मरता है। हिंसा का प्रयोग नरक का हेतु है। इसीलिए हिंसा त्याज्य है।

इस इकाई में हम हिंसात्मक कार्यों से मुक्ति पाने के लिए अहिंसा के विविध पहलुओं की चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम हम नि:शस्त्रीकरण एवं इसके उपायों की चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् युद्ध के सन्दर्भ में अहिंसा तथा हिंसा का अहिंसात्मक ढ़ंग से प्रतिरोध कैसे करें, इसको जान पाएँगे। हिंसा की पूर्ण आहूति के लिए अहिंसा प्रशिक्षण के सूत्रों को सीख सकेंगे।

4.2 नि:शस्त्रीकरण : शस्त्र परिसीमन

आदमी शांति चाहता है, वह जितनी योजनाएं बनाता है उन सबका लक्ष्य यही होता है कि सुख-शांति मिले। उसके सब कामों में यही दृष्टि रहती है। उसकी तमाम मेहनत, चिन्ता और परेशानी की पृष्ठभूमि में शांति की इच्छा है। उसका आज का सारा कार्यक्रम इसी हेतु से है कि कल उसे आराम मिले। यह बात जैसे व्यक्तियों के संबंध में है वैसे ही समुदायों, संगठनों, समूहों, जातियों और देशों के सम्बंध में है। वास्तव में मनुष्य ने जो यह विविध संगठन बनाये हैं, उनके निर्माण में उसका उद्देश्य शांति की चाह ही है। शांति के लिए वह समय-समय पर तरह-तरह के आविष्कार और अनुसंधान करता रहा है। उसका सारा इतिहास शांति प्राप्त करने के प्रयत्नों का विवरण है।

इस शांति को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों ने हिंसक साधनों का निर्माण किया। अणुबम, उद्जनबम, बन्दूक, तोप सबका सहारा लिया। फिर भी शांति नहीं हुई। आदमी इस सच्चाई को नहीं जानता कि शांति की प्राप्ति हिंसा से नहीं हो सकती। इसलिए जब एक राज्य ने हिंसक अस्त्र बनाये तो उसे देखकर दूसरे ने उससे अधिक हिंसक शस्त्र जुटाने की कोशिश की। सन् 1942 में अमेरीका ने जापान पर अणुबम फेंके थे। जिससे जापान के दो शहरों हिरोशिमा और नागासाकी की अरबों-खरबों की सम्पदा राख के ढेरों में बदल गई और अकेले हिरोशिमा शहर में ही एक बम से ढाई लाख मानव मारे गए। उसके सात वर्ष बाद 1949 में रूस ने भी आणविक बमों के सफल प्रयोग किये।

अणुबम, उद्जनबम आदि भयंकर हिंसक साधनों को अपनाकर भी मनुष्य अब तक शांति को प्राप्त नहीं कर सका। क्योंकि शांति प्राप्त करने के लिए अब तक उसने हिंसक साधनों को अपनाया, अब उसे अपने साधन को बदलकर अहिंसा को अपनाना होगा। हमें शांति के साध्य को प्राप्त करने के लिए शांति के साधन अपनाने होंगे। साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की शुद्धि पर भी ध्यानदेना होगा। विश्व में शांति व्यवस्था कायम हो इसके लिए आवश्यक है—अहिंसा। हिंसक प्रवृत्तियों का समापन तभी हो सकता है जब हम 'नि:शस्त्रीकरण ' को समझें और अपनाएँ।

4.2.1 नि:शस्त्रीकरण : अर्थ

नि:शस्त्रीकरण शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। मुख्य रूप से इसका तात्पर्य शस्त्रों में कटौती, शस्त्रों पर प्रतिरोध लगाया जाना या शस्त्रों के उन्मूलन से माना जाता है।

नि:शस्त्रीकरण को परिभाषित करते हुए कहा गया - 'सैन्य शक्ति जिसमें शस्त्र, सामान तथा सेना से सम्बन्धित कोई वस्तु जैसे कि सैनिक अड्डे और बजट इत्यादि को सीमित करने, कटौती या उन्मूलन करने की योजना अथवा साधन नि:शस्त्रीकरण है।'

एक अन्य परिभाषा के अनुसार-'कोई भी एक योजना जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शस्त्रों की संख्या, शस्त्रों के प्रकार, शस्त्रों की

प्रयोजना, प्रणाली, उसका नियन्त्रण, उसकी सहायता के लिए किये जाने वाले तुरन्त यंत्रों का निर्माण, प्रयोग, गुप्त सूचनाएं एकत्र करने के संयंत्र, सेना का संख्यात्मक स्वरूप आदि को नियमित करने से सम्बंधित है, यह निःशस्त्रीकरण की श्रेणी में आते हैं।'

निःशस्त्रीकरण कई प्रकार का हो सकता है- एकपक्षीय या बहुपक्षीय, क्षेत्रीय या विश्वव्यापी, आंशिक या पूर्ण। यह विभिन्न राष्ट्रों की सद्भावना पर आधारित भी हो सकता है।

बोलचाल की भाषा में कहें तो निःशस्त्रीकरण के दो अर्थ हैं —

1. शस्त्रों की पूर्ण समाप्ति, 2. शस्त्रों का परिसीमन (नियन्त्रण)।

1. शस्त्रों की पूर्ण समाप्ति

निःशस्त्रीकरण का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा बनाये रखना है क्योंकि ऐसी मान्यता है कि शस्त्रीकरण से युद्ध को बढ़ावा मिलता है। 'लेबुल' का मत है कि शस्त्रीकरण, विशेष प्रकार के शस्त्र तथा शस्त्र होड़ युद्ध के स्रोत हैं, जिनसे छुटकारा शस्त्रों की समाप्ति या शस्त्र-नियंत्रण से ही हो सकता है। इसलिए निःशस्त्रीकरण का एक लक्ष्य शस्त्रों की पूर्ण समाप्ति है।

2. शस्त्रों का परिसीमन

इसे शस्त्र-नियन्त्रण भी कहा जा सकता है। निःशस्त्रीकरण का एक अर्थ जहां उस नीति या योजना से है जिसके अन्तर्गत शस्त्रों को पूर्णरूप से समाप्त करने का उद्देश्य होता है तो उसका दूसरा अर्थ शस्त्र-नियंत्रण से है। शस्त्र भण्डारों के स्तर, आकार और उनके प्रयोग संबंधी शस्त्रीकरण की नीतियों पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि से अंकुश लगाने की नीति को 'शस्त्र-नियन्त्रण' कहते हैं। ब्रनेन के अनुसार शस्त्र-नियन्त्रण का उद्देश्य है- शस्त्र क्षमताओं का समायोजन करते हुए राष्ट्रीय सुरक्षा को प्राप्त करना।

4.2.2 निःशस्त्रीकरण एवं विश्व शांति

वर्तमान समय में विश्व-शांति को सबसे बड़ा खतरा परमाणु शस्त्रों के विशाल भण्डारों से है। विभिन्न प्रकार के परमाणु शस्त्र, मानवता के अस्तित्व के लिए सबसे भयंकर खतरा है। मानव-जाति को परमाणु शस्त्रों की विनाश क्षमता का प्रथम उदाहरण तभी मिल गया था जब अमेरिका ने हिरोशिमा तथा नगासाकी पर परमाणु बम गिराये। उस समय के परमाणु बम अपनी आरम्भिक अवस्था में थे तथा उनकी विनाश क्षमता तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम थी। आज अत्याधुनिक परमाणु शस्त्रों का आविष्कार तथा निर्माण हो चुका है तथा इनकी विनाश क्षमता पूर्व में प्रयोग किये गए परमाणु बमों की अपेक्षा कई लाख गुना अधिक है।

साथ ही आज विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में परमाणु शस्त्रों का इतने विशालतम भण्डार है कि यदि जाने-अनजाने उनका प्रयोग हो जाये तो विश्व को एक ही बार में पूरा नष्ट किया जा सकता है।

परमाणु शस्त्रों की इस भीषण विनाश क्षमता को देखकर लगता है कि विश्व शांति की दृष्टि से परमाणु शस्त्रों के प्रयोगों को रोकने की अत्यन्त आवश्यकता है और यह तभी संभव है, जब परमाणु शस्त्रों का उन्मूलन तथा पूर्ण निःशस्त्रीकरण हो जाये।

निःशस्त्रीकरण केवल किसी राष्ट्र के लिए नहीं अपितु समस्त मानव-जाति के हित में है क्योंकि जब तक समस्त शस्त्रों का उन्मूलन नहीं होगा तब तक एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र का भय बना रहेगा। भयभीत चित्त कभी शांति की अनुभूति नहीं कर सकता। अतः विश्व शांति के लिए आवश्यकता है, सभी देश व राष्ट्र एक साथ मिल-बैठकर समझौता करें कि शस्त्रों का उन्मूलन किया जाये।

4.2.3 भगवान महावीर और निःशस्त्रीकरण

शस्त्रों-अस्त्रों की विनाशक क्षमता से मानव जाति को बचाने के लिए तथा इन शस्त्रों के फैलाव को रोकने के लिए निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र परिसीमन की प्रक्रियाओं का प्रयोग जो आज हो रहा है, भगवान महावीर ने आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व ही उसकी बात कह दी थी।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में भगवान महावीर की वाणी का एक संकलन है- आचारांग। उसका प्रथम अध्ययन है- शस्त्र परिज्ञा। उसे आज की भाषा में निःशस्त्रीकरण कहा जा सकता है।

भगवान महावीर ने शस्त्र के दो प्रकार बताये— द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र।

1. द्रव्य शस्त्र

पाषाण युग से अणु युग तक जितने भी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है, वे सब द्रव्य शस्त्र हैं। जैसे—तलवार, बन्दूक, भाला, तोप आदि। ये सब निष्क्रिय शस्त्र हैं क्योंकि इसमें स्वतः प्रेरक संहारक शक्ति नहीं है। इसलिए भगवान ने प्रस्तर, लौह आदि से बने

शस्त्रों को शस्त्रों की परिगणना में दूसरा स्थान दिया। प्रथम स्थान दिया-भावशस्त्र को। द्रव्य शस्त्र केवल पदार्थ से बने हुए हैं। इन्हें तो बनाने वाला चाहिए। यह स्वत: निर्मित नहीं होते और न ही स्वत: किसी का हनन करते हैं।

2. भाव शस्त्र

भाव एक बहुत बड़ा शस्त्र है। वस्तुत: द्रव्य शस्त्र के निर्माण से पूर्व उसके निर्माण की परिकल्पना, उसके आकार-प्रकार का चिन्तन मनुष्य के मस्तिष्क में होता है। बाहर से पहले वह मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर में निर्मित होते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में निर्मित होने वाली शस्त्रों की इसी परिकल्पना को भावशस्त्र कहते हैं। लड़ाइयां, युद्ध जितनी भी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियां हैं पहले भावों में पैदा होती हैं। भाव से उत्तरकर मन में आती हैं। तत्पश्चात क्रियावाही द्वारा हिंसक क्रिया होती है। भगवान महावीर ने भी दुष्प्रयुक्त इन्हीं भावों को भावशस्त्र कहा तथा शस्त्र निर्माण के लिए क्रियाशील भाव का तथा उस अविरति या आकांक्षा का जो धातु-द्रव्य के शस्त्रों के निर्माण की मूलभूत प्रेरणा है- उसे शस्त्र की परिगणना में पहला स्थान दिया है।

भगवान महावीर ने नि:शस्त्रीकरण के सन्दर्भ में इन दोनों शस्त्रों में से भाव शस्त्रों के उन्मूलन (समाप्ति) को महत्त्वपूर्ण माना। भाव शस्त्रों के परिसीमन के बिना द्रव्य शस्त्रों का परिसीमन संभव नहीं है।

4.2.4 नि:शस्त्रीकरण के उपाय

आयारो के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन में भगवान महावीर ने नि:शस्त्रीकरण की भावना को व्यापक बनाने के लिए दो उपाय निर्दिष्ट किये हैं — 1. विजातीय के प्रति प्रेम 2. सर्वजीव समानता

1. विजातीय के प्रति प्रेम - एक ही जाति के जीव सजातीय कहलाते हैं जैसे-मनुष्य के लिए मनुष्य सजातीय है। वहीं एक जाति के लिए दूसरी जाति के जीव विजातीय कहलाते हैं। जैसे- मनुष्य के लिए पशु, पशु के लिए मनुष्य या अन्य कोई प्राणी विजातीय है। इस अर्थ में स्थावर (पानी, अग्नि, पृथ्वी, वायु आदि) जीव हमारे लिए विजातीय हैं। पशु गाय, बैल, घोड़े, हाथी भी मनुष्य के लिए विजातीय हैं। व्यक्ति सजातीय के प्रति तो फिर भी अहिंसक बन सकता हैं परन्तु सजातीय के साथ विजातीय के प्रति प्रेम हो यह नि:शस्त्रीकरण का पहला आधार है।

2. सर्वजीव समानता - भगवान महावीर ने अहिंसक चेतना के निर्माण हेतु सर्वजीव समानता की बात प्रस्तुत की। उन्होंने कहा- सब जीव समान है। जीव के शरीर भले ही छोटे-बड़े हो, आत्मा सबमें समान है। ज्ञान का विकास सब जीवों में समान है। आत्मवीर्य या सामर्थ्य वीर्य की दृष्टि से कोई निम्नाधिक नहीं हैं। अत: भगवान महावीर के अनुसार सजातीय, विजातीय, रंग-भेद, जीवन-स्तर, विचारधारा आदि के आधार पर भेद-भाव न रखकर प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव हो। नि:संदेह महावीर की यह वाणी नि:शस्त्रीकरण या विश्व शांति का महत्त्वपूर्ण आधार बन सकती है, क्योंकि फिर एक देश को अपने एवं दूसरे देश की जनता में कोई भिन्नता नजर नहीं आएगी।

4.2.5 शस्त्र-विवेक

हत्या के साधन को जैसे शस्त्र कहा जाता है, वैसे ही हिंसा के साधनों को शस्त्र कहा गया है। आज हिंसा का बोलबोला है। हिंसक प्रवृत्तियां दिनोदिन बढ़ती जा रही हैं। हिंसक प्रवृत्तियों के उन्मूलन के लिए आवश्यक है, हिंसा के साधन अर्थात् हिंसक शस्त्रों को निरस्त करना। हिंसक शस्त्रों का उन्मूलन हो इसके लिए शस्त्र विवेक बहुत जरूरी है। जब तक शस्त्रों का ज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति न चाहते हुए भी हिंसक प्रवृत्तियों में फंसता रहता है अथवा हिंसक कार्य कर बैठता है।

सामान्यतया व्यवहार के धरातल पर हम बंदूक, तोप, गोलाबारुद, प्रक्षेपास्त्र आदि को ही शस्त्र मानते हैं परन्तु शस्त्र केवल इतने ही नहीं हैं। शस्त्र को परिभाषित करते हुए आचारांग में कहा गया है—''शस्यते येन इति शस्त्रम्।'' जिससे हनन किया जाए वह शस्त्र है। शस्त्र केवल धातुओं या काष्ठ का बना हुआ हो जरूरी नहीं है। ऐसा कोई भी पदार्थ जो प्राण-वियोजन अथवा हृदय विदारण करने में निमित्तभूत बने वह शस्त्र है।

स्थानांग सूत्र में शस्त्र के दस प्रकारों का उल्लेख है- अग्नि, विष, लवण, स्नेह, क्षार, अम्ल, खड्ग, दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काया। इनमें अग्नि, विष, स्नेह क्षार, अम्ल तथा खड्ग- द्रव्य शस्त्र हैं और दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय-भाव शस्त्र हैं।

यदि नमक जरूरत से ज्यादा खाया जाए तो व्यक्ति के लिए मौत का कारण बन सकता है। अग्नि मारक है। जहर भी खत्म कर देता है। अत: ये सभी शस्त्र हैं।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के शब्दों में ''बहुत बार जिन पदार्थों को हम अपनी रक्षा का साधन मानते हैं, वे साधन ही मार डालते हैं, वे भी शस्त्र है। चीनी भी अधिक मात्रा में सेवन की जाए तो शस्त्र है। घी, तेल भी शस्त्र है।'' परन्तु ये सभी द्रव्य शस्त्र है। हमारा शरीर, वाणी और मन भी जब दुष्प्रयुक्त होते हैं तब शस्त्र का कार्य करते हैं। अत: ये भी शस्त्र हैं। परन्तु ये द्रव्य शस्त्र नहीं भाव शस्त्र हैं।

आचारांग में द्रव्य शस्त्र के तीन प्रकार बताए गए-

1. स्वकाय शस्त्र—जब किसी जाति का जीव स्वयं की जाति के लिए मारक बनता है तो उसे स्वकाय शस्त्र कहते हैं। जैसे- जीवित जल में दूसरा जल डालने से जल के जीवों की हिंसा होती है। यह स्वकाय शस्त्र है।

2. परकाय शस्त्र—एक काय के जीवों की हिंसा दूसरे प्रकार की काय से होने पर हिंसा करने वाला परकाय शस्त्र कहलाता है। जैसे जल को गरम करने पर जल अजीव हो जाता है। यहां अग्नि जल के लिए परकाय शस्त्र है।

3. उभय काय—जो काय स्वयं की जाति वाले जीवों के लिए भी शस्त्र होता है और दूसरी काय के जीवों के लिए भी शस्त्र होता है वह उभय काय शस्त्र है। जैसे- अग्नि। अग्नि स्वयं की जाती के लिए भी शास्त्र है और पर काय का भी शास्त्र है।

इस प्रकार शस्त्र का विवेक हिंसात्मक कार्यों से बचने के लिए जरूरी है। शस्त्र विवेक के बिना न चाहते हुए भी हिंसा हो जाती है।

4.3 अहिंसा और युद्ध

4.3.1 युद्ध एक समस्या

विश्वशांति मानव-जाति के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध या युद्ध का भय, विकास एवं प्रगति के सभी साधनों को शान्तिपूर्ण उपयोग से हटाकर युद्ध के लिए या युद्ध की तैयारियों के लिए मोड़ देता है, जिसके परिणामस्वरूप विनाश का मार्ग खुल जाता है। मानव इतिहास के रक्तरंजित पन्ने, युद्ध की भयानकता तथा विनाशता का जीवन्त उदाहरण है। युद्ध की विभीषिका का इतिहास अति-प्राचीन है। प्राचीनकाल से ही आवेश की क्रियान्विति युद्ध के रूप में होती रही है।

वर्तमान युग के नाभिकीय एवं अणु रासायनिक युद्ध का परिणाम विजेता और विजित दोनों राष्ट्रों को सदियों तक समान रूप से भोगना पड़ता है। युद्ध में केवल भौतिक हानि नहीं होती है, इसके अलावा मानवता के अपाहिज और विकलांग होने में भी यह बहुत बड़ा कारण है। इससे पर्यावरण इतना प्रदूषित हो जाता है कि वर्षो तक व्यक्ति शुद्ध श्वास और भोजन भी प्राप्त नहीं कर सकता। युद्ध के भयावह परिणामों की उद्घोषणा करते हुए आचार्य तुलसी का कहना है—''युद्ध वह आग है जिसमें साहित्यकारों का साहित्य, कलाकारों की कला, वैज्ञानिकों का विज्ञान, राजनीतिज्ञों की राजनीति और भूमि की उर्वरता भस्मसात हो जाती है।''

4.3.2 युद्ध के कारण

प्राचीन काल में जर (सम्पत्ति), जोरू (स्त्री) और जमीन लड़ाई के मुख्य कारण माने जाते थे। पर अब यह चीजें सामान्य हो गईं। इन सबके लिए छोटे-मोटे झगड़े भले ही हों पर वह स्थानीय होते हैं और जल्दी ही समाप्त हो जाते हैं। आज जब दो देश आपस में टकराते हैं तो वे युद्ध पर उतारू हो जाते हैं। इसके मुख्य कारण निम्न हैं —

1. वैयक्तिक अहंकार - अहंकार एक मौलिक मनोवृत्ति है। प्रत्येक देश व राष्ट्र का अपना अहं होता है। जब किसी आर्थिक, राजनैतिक कारणों से एक देश से दूसरे देश के अहंकार में ठेस पहुँचती है तो अहंकार का नाग फुंफकार उठता है और दो राष्ट्रों के बीच युद्ध का वातावरण निर्मित हो जाता है।

2. सत्ता की महत्त्वाकांक्षा - मानव जीवन की एक सबसे बड़ी कमजोरी है— आकांक्षा। चाह, इच्छा, आकांक्षा कभी पूरी नहीं होती। अंग्रेजी में कहावत भी है—Sky is the limit. इसी आकांक्षा का एक क्षेत्र है—सत्ता। हर व्यक्ति चाहता है मेरे पास सत्ता हो। मैं दूसरों पर नियंत्रण करूं। व्यक्ति की यही भावना उसे दूसरे देश पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करती है।

3. स्वयं को शक्तिशाली सिद्ध करने की अभिलाषा - प्रत्येक व्यक्ति में यह भावना होती है कि वह दूसरे व्यक्ति से सर्वश्रेष्ठ रहे। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक देश दूसरे देश से अपने आपको श्रेष्ठ मानता है और अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए वह युद्ध तक करने के लिए तैयार हो जाता है। अब तक बहुत से राष्ट्रों ने सिर्फ अपने आपको शक्तिशाली दिखाने के लिए युद्ध किया है।

4. तृष्णा और परिग्रह- हिंसा की जड़ है— तृष्णा और परिग्रह। आदमी विविध पदार्थों का उपयोग करना चाहता है। अपनी सुरक्षा के लिए, आवश्यक पदार्थों का सेवन करने के अतिरिक्त इन्द्रिय सुख के लिए अधिक से अधिक भोग-विलास चाहता है। इसके

लिए वह अधिक से अधिक परिग्रह करता है। परिग्रह की चेतना समस्या की जनक है। जब इस चेतना का जन्म होता है तो कोई भी देश या राष्ट्र दूसरे देश के ऊपर हमला करता है। वह अपनी सीमा बढ़ाने के लिए, अपनी सम्पदा बढ़ाने के लिए दूसरे देश पर आक्रमण करता है।

4.3.3 युद्ध से बचने का उपाय : अहिंसा

जीवन के अन्य क्षेत्रों में हमें अहिंसा की बात कुछ-न-कुछ कम या ज्यादा जंच सकती है, पर युद्ध और अहिंसा का क्या संबंध! क्या युद्ध करते समय भी आदमी अपनी हिंसा-वृत्ति का कुछ नियंत्रण कर सकता है? क्या कभी ऐसा हुआ है? युद्ध का मुकाबला करने के लिए आदमी अपने प्रतिद्वन्द्वी से अधिक हिसंक हो-यही कल्पना होती है, फिर क्या युद्ध का प्रतिकार कभी अहिंसा से भी हो सकता है? ऐसे अनेक प्रश्न युद्ध के सन्दर्भ में अहिंसा की चर्चा करते समय उठने स्वाभाविक हैं। परन्तु इस बात की यथार्थता को हमें स्वीकार करना होगा, क्योंकि स्वयं भगवान महावीर ने युद्ध से बचने के लिए अहिंसा को एक महत्त्वपूर्ण उपाय बतलाया।

वस्तुत: अहिंसा के अनेक अर्थ हैं परन्तु युद्ध के सन्दर्भ में अहिंसक चेतना के निर्माण के लिए चार बातों पर ध्यान देना जरूरी है।

1. मन वचन काया की दुष्प्रवृत्ति को रोकना।
2. सजीव शस्त्र का निरोध।
3. संकल्पजा हिंसा का परिहार।
4. 'मैं आक्रमण नहीं करूंगा' इस व्रत का स्वीकार।

1. मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्ति का निरोध - अहिंसा का एक अर्थ है अपनी दुष्प्रवृत्ति को रोकना। जब व्यक्ति के मन, वचन दुष्प्रवृत होते हैं तब व्यक्ति के भीतर हिंसा के भाव पैदा होते हैं। जब इनकी दुष्प्रवृत्तियों का निरोध होता है तब अहिंसा फलित होती है। जहां अहिंसा के भाव होते हैं, वहां युद्ध चाहते हुए भी पनप नहीं सकता।

2. सजीव शस्त्र का निर्माण - भगवान महावीर ने कहा— शस्त्र का निर्माण सबसे पहले मस्तिष्क में होता है। लौह आदि धातु से बनने वाले शस्त्र निर्जीव शस्त्र है अर्थात् पदार्थ से बने हुए हैं परन्तु इनको बनाने से पहले इनका निर्माण मस्तिष्क में होता है जो मस्तिष्क में निर्मित होता है वह सजीव शस्त्र है। जब सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के शस्त्र का निर्माण नहीं होता तब उस स्थिति में युद्ध वर्जना की बात सहज ही फलित हो जाती है।

3. संकल्पजा हिंसा का परिहार - भगवान ने हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया— आरंभजा, विरोधजा, संकल्पजा।

आरम्भजा - आरम्भजा हिंसा का अर्थ है अपने जीवन निर्वाह के लिए की जाने वाली हिंसा।

विरोधजा - अपनी सुरक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा। किसी ने स्वयं पर हमला किया तो उसके प्रतिकार में होने वाली हिंसा।

संकल्पजा - संघर्ष एक मौलिक मनोवृत्ति है। इसी वृत्ति के फलस्वरूप व्यक्ति अपना आधिपत्य दूसरों पर जमाने के लिए आक्रमण करता है। यह हिंसा संकल्पजा हिंसा कहलाती है। युद्ध को दूर करने के लिए संकल्पजा हिंसा त्याज्य है। संकल्पजा हिंसा का अर्थ है- जानबूझकर अकारण हिंसा करना।

4. ''मैं आक्रमण नहीं करूंगा'' - इस व्रत का स्वीकार—जब व्यक्ति ''मैं आक्रमण नहीं करूंगा'' इस व्रत को स्वीकार करता है तब व्यक्ति के भीतर युद्ध का उन्माद पैदा नहीं होता। युद्ध का उन्माद पैदा न हो इसके लिए जनता को प्रशिक्षित करना जरूरी है क्योंकि जनता के समर्थन के बिना कोई भी सरकार युद्ध नहीं लड़ सकती। जनता को युद्ध के उन्माद से दूर रखने के लिए अनाक्रमण की दीक्षा से दीक्षित करना जरूरी है।

ये चारों सूत्र अहिंसक चेतना की निष्पत्ति भी हैं तो इन सूत्रों को अपनाने से इनका प्रतिफल अहिंसक चेतना का जागरण भी है। इन सूत्रों को अपनाकर व्यक्ति जितना अहिंसा के करीब जाता है उतना ही युद्ध— समाज व राष्ट्र से दूर चला जाता है।

बोध प्रश्न-1

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

(1) क्या नि:शस्त्रीकरण से विश्वशान्ति सम्भव है? स्पष्ट करें।

(2) नि:शस्त्रीकरण के सन्दर्भ में भगवान महावीर की अवधारणा को समझाइये?

(3) युद्ध के किन्हीं दो कारणों की चर्चा करें?

(4) अहिंसा के द्वारा युद्ध को दूर किया जा सकता है, कैसे? स्पष्ट करें।

(5) शस्त्र विवेक का अर्थ क्या है? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

4.4 अहिंसात्मक प्रतिरोध

4.4.1 अहिंसात्मक प्रतिरोध : अर्थ

जब कोई व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूह द्वारा किये जाने वाले किसी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि दुर्व्यवहार, शोषण या अत्याचार का विरोध शांति और प्रेमपूर्वक अपने विपक्षी के प्रति कोई दुर्भाव न रखते हुए और समाज के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए करता है तो उसे 'अहिंसात्मक प्रतिरोध' कहा जाता है। जो लड़ने का साहस रखता है फिर भी लड़ाई नहीं करता, वही सधा हुआ अहिंसक प्रतिरोधी है। कायर के हृदय में भय होता है, इसलिए वह प्रेम नहीं कर सकता और यदि वह प्रेम नहीं कर सकता तो सफल प्रतिरोधी नहीं हो सकता। महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक प्रतिरोध की ओर जनता का विशेष ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कहा- सामाजिक बुराई का प्रतिकार अहिंसात्मक रूप से करने का अर्थ यह नहीं कि हम उसे देखकर निष्क्रिय बैठे रहें और आवश्यक सुधार अपने आप हो जाने की प्रतिक्षा करते रहें। अहिंसक प्रतिकार के लिए हमें अपने स्वार्थ, भय आदि का परित्याग कर, दुर्जनों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न रखकर और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचाते हुए प्रेम-पूर्वक उनका असहयोग करना चाहिए। इसके जो भी परिणाम आये, हमें अपनी दृढ़ता बनाये रखनी चाहिए।

उदाहरण स्वरूप जब हमें किसी ने गाली दी या अकारण हमारे सामने गलत ढंग से पेश आता है तो हम प्रतिकार स्वरूप उससे बोलना बन्द कर दें। उसके कार्यों में हस्तक्षेप न करें उसे सहयोग न दें। परन्तु हमारे मन में उसके प्रति किसी प्रकार का विरोध न हो। जब कभी वह बीमार हो, अस्वस्थ हो तो हम उसकी सेवा करें। यह अहिंसात्मक प्रतिकार है। तात्पर्य यह है कि असहयोग भी करें पर हिंसक के प्रति मन में घृणा या दुर्भाव न हो।

गांधीजी ने एक उदाहरण देते हुए कहा—"अगर कोई हमारे खेतों पर कब्जा करना चाहता है तो हम उन्हें देने से इन्कार कर देंगे, चाहे उसका मुकाबला करने में हमें जान ही देनी पड़े परन्तु उसे कोई बीमारी हो या वह प्यास से पीड़ित हो और हमारी मदद चाहता हो तो हम उसकी मदद भी करें। हमारे मन में उसके प्रति कोई दुर्भाव न हो।"

4.4.2 अहिंसात्मक प्रतिरोध की आवश्यकता

हिंसा के पास काम करने के लिए स्थूल शस्त्रास्त्र होते हैं पर अहिंसा अपने पास ऐसे साधन नहीं रखती। वह अपना काम धूमधाम और कोलाहल से नहीं करती। वह तो शांत और चुपचाप रहकर ही काम करती है। दूसरों को प्राय: पता ही नहीं लगता कि कुछ काम हो रहा है और अहिंसा अपना कार्य करती रहती है। यद्यपि हिंसा का प्रयोग लोगों को बाह्य प्रतीकों द्वारा सिखाया जाता है। पहले तख्तों पर निशान लगाया जाता है फिर लक्ष्य पर और बाद में जानवरों पर। उसके बाद विनाश लीला की कला में निष्णात होने का प्रमाण पत्र दिया जाता है।

परन्तु अहिंसक मनुष्य के पास ऐसा कोई प्रशिक्षण नहीं होता। उसके पास शत्रु पक्ष को हराने के लिए कोई बाह्य साधन नहीं होता। फिर भी वह अपने प्रतिपक्षी को पराजित करने की क्षमता रखता है। प्रतिपक्षी का वह हिंसात्मक शस्त्रों से कत्ल नहीं करती अपितु उसका हृदय परिवर्तन करती है। अत: प्रतिपक्षी का संहार न हो और उसका हृदय विदारण भी न हो, केवल उसका हृदय परिवर्तन हो और यथार्थ को समझ सके, इस दृष्टि से अहिंसात्मक प्रतिरोध की आवश्यकता प्रतीत होती है। अन्यथा हिंसक की हिंसक प्रवृत्तियां बढ़ती चली जाएगी। उसे ऐसा लगेगा कि उससे ज्यादा शक्तिशाली इस दुनियां में कोई नहीं है। वो जैसा चाहे वैसा कर सकता है और समाज में बुराई के कदम दिनोदिन बढ़ने लगेंगे। इसलिए इन बढ़ते गलत कदमों को रोकने के लिए प्रतिरोध जरूरी है।

4.4.3 अहिंसा का विरोधी पक्ष पर प्रभाव

जब किसी हिंसक व्यक्ति का अहिंसक तरीके से विरोध होता है तो उसके मन पर तथा अन्य जनता पर उसका कैसा प्रभाव पड़ता है और कैसे क्रमश: ऐसा वातावरण बनता है कि अन्त में आक्रामक का हृदय-परिवर्तन होता है, उसे अपना विरोध हटाना और अपने अहिंसक प्रतिरोधी से प्रेम-पूर्ण समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस विषय पर श्री रिचर्ड वी. ग्रेग ने अपनी पुस्तक 'अहिंसा की शक्ति' में सुन्दर प्रकाश डाला है। उसके कुछ बिन्दु निर्दिष्ट हैं-

आक्रामक को आश्चर्य, आत्मविश्वास का ह्रास

आक्रामक जब किसी ऐसे व्यक्ति को मारता है जो भय या क्रोध करके बदले में प्रहार करता है। ऐसी दशा में आक्रामक समझता है कि मेरी नीति ठीक है, क्योंकि आक्रान्ता भी उसी नीति का अनुकरण कर रहा है। अपनी नीति में इस प्रकार विश्वस्त रहने के कारण उसका साहस बना रहता है और वहीं हिंसक कार्य अधिकाधिक बलपूर्वक करने पर भी आक्रान्त डरता नहीं, क्रोध नहीं करता, प्रत्याक्रमण नहीं करता, प्रसन्न रहता है, झगड़े की जांच के लिए और सत्य बात मानने के लिए तैयार रहता है। आक्रामक का विरोध केवल नैतिक रूप से करता है, अहिंसात्मक प्रतिरोध करता है तो ऐसी दशा में आक्रामक आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि इन बातों की उसे आशा न थी। वह ऐसे व्यवहार से भौंचक्का रह जाता है और यह निश्चय नहीं कर पाता कि उसे क्या करना चाहिए? इसके विपरीत, आक्रान्त अधिकाधिक कष्ट सहने के लिए तैयार रहता है। वह अहिंसा मार्ग को श्रेष्ठ समझता है, अपनी नीति में विश्वास रखता है और अपना नैतिक संतुलन बनाए रखता है।

आक्रामक के मन में अन्तर्द्वन्द्व

अहिंसक प्रतिरोध के दृढ़ता पूर्ण उदार व्यवहार से आक्रान्त के मन में उच्च भावनाएं जागृत होती हैं और उसकी हिंसात्मक भावनाओं से लड़ने लगती हैं। इस प्रकार उसके मन में दो परस्पर विरोधी भाग हो जाते हैं। अहिंसात्मक प्रतिरोधी की बातों का परिणाम शायद शीघ्र ही न हो किन्तु बार-बार दोहराने से परिणाम उतना ही निश्चयात्मक होता है जिस प्रकार व्यापारिक विज्ञापनों के बार-बार दोहराने से हुआ करता है। आक्रामक को थोड़े बहुत समय में यह अनुभव होने लगता है कि मैंने भूल की है जो कि विरोधी को कायर समझा। उसके मन में अपनी नीति के विषय में शंका होने लगती है। इस अन्तर्द्वन्द के कारण वह अपने हिंसक कार्यक्रम को समेटने की बात सोचने लगता है।

आक्रामक कमजोर पड़ता जाता है

प्रत्येक व्यक्ति या समूह की यह स्वभाविक इच्छा होती है कि मैं अपने से सम्बंधित दुनियां में अच्छा होशियार, शक्तिमान समझा जाऊं। इधर आक्रामक यह अनुभव करने लगता है कि कुछ लोगों ने मेरी भूल देखली है, कुछ ने उसका समाचार पढ़ लिया है, कुछ ने मेरी बात सुन ली है और जगह-जगह मेरी प्रतिष्ठा घट रही है, लोकमत मेरे साथ नहीं है- उस व्यक्ति या समूह को कौन अच्छा कहेगा, जो शांत स्वभाव और निहत्थे व्यक्ति पर आक्रमण करे। धीरे-धीरे आक्रामक को भान होने लगता है कि शारीरिक या पाशविक शक्ति से भिन्न भी कोई शक्ति है और वह है आत्म-शक्ति, अहिंसा की शक्ति। हिंसा-मार्ग निम्न कोटि का है, अहिंसा का पथ ही श्रेष्ठ है और मनुष्योचित है। आक्रामक को अपनी नीति में आस्था नहीं रहती। इस प्रकार वह शारीरिक थकान के साथ मानसिक परेशानी अनुभव करता है और अधिकाधिक कमजोर पड़ता जाता है।

हिंसक का हृदय परिवर्तन

अहिंसात्मक प्रतिरोध की यह विशेषता है कि इसमें आक्रान्त यह नहीं चाहता कि आक्रमणकारी की पराजय हो, उसको नीचा दिखाया जाए, उसको कष्ट पहुंचाया जाए। अहिंसक प्रतिरोधी की आकांक्षा यही होती है कि वह अपने सद्व्यवहार, सत्य-निष्ठा, कष्ट सहिष्णुता और प्रेमभाव से अपने विपक्षी पर ऐसा प्रभाव डाले कि उसमें उच्च भावनाएं जागृत हो, उसका हृदय परिवर्तन हो।

अहिंसक प्रतिरोधी की बल वृद्धि

इसके विपरीत, अहिंसक प्रतिरोधी की स्थिति कई कारणों से मजबूत बनती है।

1. उसकी कार्यपद्धति का आधार प्रारम्भ से ही नैतिक होता है जो आक्रामक को चकित करता है।

2. वह आत्म-संयम और क्रोधाभाव के कारण अपनी शक्ति को सुरक्षित रखता है। वह थकता या घबराता नहीं।

3. उसे अपने कार्यक्रम पर श्रद्धा और विश्वास होता है। वह निरन्तर यह अनुभव करता है कि वह एक शुभ कार्य में लगा है। उसका शरीर, मन, इच्छा, शक्ति और आत्मा सब एक सूत्र में ग्रथित होकर एक ही उद्देश्य के लिए काम कर रहे हैं।

4. कष्ट भोगने में भी अहिंसक प्रतिरोधी अपनी सफलता और विजय मानता है क्योंकि उसका कार्य प्रत्येक दशा में मानवता का मान बढ़ाने वाला होता है।

5. अहिंसात्मक प्रतिरोधी कभी पराजित नहीं होता, दूसरों की दृष्टि में वह घाटे या नुकसान का काम मालूम होने पर भी वास्तव में वह सफलता ही हासिल करता है।

4.4.4 अहिंसक प्रतिरोधी के आवश्यक गुण

इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिए कि अहिंसक प्रतिरोधी की सफलता और विजय के लिये यह आवश्यक है कि उसके चरित्र या स्वभाव में प्रेम, आत्मविश्वास, श्रद्धा, साहस, त्याग, सच्चाई, नम्रता, आत्मनिग्रह, अपरिग्रह आदि विविध नैतिक गुण होने ही चाहिए तभी वह आक्रमणकारी से अधिक प्रबल हो सकता है। सामूहिक अहिंसात्मक प्रतिरोध का नेतृत्व करने वाले में तो ये गुण असाधारण रूप से उन्नत होने चाहिए क्योंकि उसका प्रभाव उसके सब साथी कार्यकर्त्ताओं पर विशेष रूप से पड़ने वाला है।

अहिंसक प्रतिरोधी को शांति-सैनिक कहा जा सकता है और शांति-सैनिकों के विषय में गांधी जी ने इस प्रकार के विचार प्रकट किये थे कि 'इनमें मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्यौछावर कर सकें। यह सेना बुड्ढों, औरतों, बच्चों, अंधों, लंगड़ों और रोगियों का भी स्वागत करे ताकि इस सेना में अधिक जनता भाग ले सकें। इस सेना को अस्त्रों की आवश्कयता नहीं होती। इसके सैनिकों को यह सीखना होता है कि रोगियों की सेवा किस तरह की जाये, अपनी जान जोखिम में डालकर भी दूसरों की रक्षा कैसे की जाये। शांति सैनिक किसी को भी शत्रु नहीं मानता जो आदमी उसे शत्रु समझे, उसके लिए भी उसके ह्रदय में प्रेम और दया होती है। वह उनके सुधार या उत्थान का इच्छुक रहता है।'

4.5 पर्यावरण व अहिंसा

4.5.1 पर्यावरण : अर्थ

पर्यावरण दो शब्द परि और आवरण से बना है। परि का अर्थ है—चारों तरफ, आवरण का अर्थ है— घेरा। इस अर्थ में पृथ्वी के चारों तरफ जो परिलक्षित होते हैं— वायु, जल, मिट्टी, पेड़-पौधे आदि सभी पर्यावरण के अंग है, इन्हीं से पर्यावरण की रचना होती है। सभी प्रकार के जीव व भौतिक तत्व अपनी क्रिया, प्रतिक्रियाओं से एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले सभी तत्त्व पर्यावरण के अन्तर्गत आते हैं।

पर्यावरण शब्द का तात्पर्य भूतल के समस्त भौतिक प्रभावों जैसे ताप, जल, वायु, पदार्थों के गठन की विभिन्नताओं तथा जैविक प्रभावों से भी होता है। मिट्टी, पहाड़ इत्यादि के अतिरिक्त दूसरे समस्त जीव भी पर्यावरण के अंग समझे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के अन्तर्गत जो कुछ भी हमें दिखाई पड़ता है, वह पर्यावरण का एक अंग है। वायु, जल, मृदा, पहाड़, समुद्र, पेड़-पौधे एवं जीव-जन्तु सभी सम्मिलित रूप से पर्यावरण की रचना करते हैं।

कोई भी जीव अपने पर्यावरण से अलग जीवन यापन नहीं कर सकता है। समस्त जीवों को उस स्थान की परिस्थितियों के अनुसार अपना जीवन निर्वाह करना पड़ता है, जहां पर वह पाया जाता है। पृथ्वी पर जीव अपने में अलग-अलग अस्तित्व नहीं रखते हैं। समस्त जीव बड़े विचित्र ढंग से अपने पर्यावरण के साथ बड़े स्तर पर आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए संबद्ध रहते हैं। पृथ्वी पर जीवों की इतनी अधिक संख्या है कि किसी भी विशेष प्रकार के जीव दूसरे अनेक जीवों के साथ सहवासित होने के लिए बाध्य होते हैं। इस प्रकार के सहवासिता का जीवों के अस्तित्व से विशेष संबंध होता है क्योंकि जीवों की अधिकांश ऊर्जा उन्हें अपने पर्यावरण से प्राप्त होती है। पोषण, आवास, जल, नमी, श्वसन, प्रजनन इत्यादि प्रक्रियाएं पर्यावरण से ही संभव है। इस प्रकार प्रत्येक जीव के पर्यावरण में अन्य दूसरे जीव भी आवश्यक अंग के रूप में उपस्थित होते हैं। अतः कोई भी जीव सहवासी जीव की उपेक्षा करके जीवित नहीं रह सकता।

पर्यावरण शब्द जीवों की क्रियाओं को प्रभावित करने वाली समस्त भौतिक एवं जैविक (Biotic) परिस्थितियों का योग है। दूसरे शब्दों में पर्यावरण को जीवमण्डल (Biosphere) भी कहते हैं जो कि जलमण्डल (Hydrosphere), स्थलमण्डल (Lithosphere) तथा वायुमण्डल (Atmosphere) के जीवनयुक्त भागों का योग होता है।

जर्मन विद्वान ए. फिटिंग (A. Fitting) ने पर्यावरण का अर्थ निरूपित करते हुए कहा है ''जीव के परिस्थिति कारकों का योग (The totality oh milien hactors oh an organism) पर्यावरण है।'' अर्थात् जीवन की परिस्थिति के समस्त तत्व मिलकर पर्यावरण अथवा वातावरण कहलाते हैं। सुप्रसिद्ध वनस्पति परिस्थिति वैज्ञानिक (Plant Ecologist) तांसले (Tansley) के अनुसार ''प्रभावकारी दशाओं का वह सम्पूर्ण योग जिसमें जीव रहते हैं, (Environment) पर्यावरण है।'' एफ. जे मांक हाऊस के अनुसार ''कोई जीव या कोई मानव या कोई वस्तु जिन परिस्थितियों में रहता है, उन सम्पूर्ण बाह्य दशाओं के समस्त योग को पर्यावरण कहते हैं।'' वेन्सटर के अनुसार पर्यावरण से अभिप्राय, परिवृत्ति, परिस्थितियां, प्रभावों एवं व्यक्तियों से है जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं के समूहों के रूप में जीवों एवं उनके समुदायों को प्रभावित करती है।

4.5.2 पर्यावरण के कारक

पर्यावरण शब्द एक वृदह शब्द है जो अनेक कारकों का एक सम्मिश्रण है। पर्यावरण कारक को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं कि जो बाह्य बल, पदार्थ, प्रभाव या परिस्थिति जिसके द्वारा जीव प्रभावित होते हैं, पर्यावरण के कारक कहलाते हैं और इन कारकों का सम्मिलित रूप ही पर्यावरण कहलाता है।

पर्यावरण के कारकों को अनेक रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है परन्तु अध्ययन की सुविधा एवं सहजता के लिए इसे निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया गया है–

1. भौतिक या अजैविक (Physical or Abiotic or Non-living)
2. जैविक अथवा कार्बनिक (Biotic or Orbanic or living)

1. भौतिक या अजैविक – इन कारकों के अन्तर्गत वे समस्त कारक आते हैं जो अपने भौतिक गुणों के कारण पर्यावरण में उपस्थित जीव को प्रभावित करते हैं अर्थात् ये जल वायु संबंधी कारक होते हैं, जैसे—1. प्रकाश 2. मृदा 3. ताप 4. वायु 5. जल 6. रसायन 7. प्राकृतिक प्रसाधन 8. प्राकृतिक यान्त्रिक क्रियाएं इत्यादि।

2. अभौतिक जैविक अथवा कार्बनिक – बनार्ड के अनुसार अभौतिक जैविक अथवा कार्बनिक पर्यावरण के अन्तर्गत निम्नलिखित कारक आते हैं–1. सूक्ष्म जीवाणु 2. परोपजीवी एवं कीटाणु 3. विशाल पौधे 4. पशु 5. विशेष प्रकार के हानिप्रद पौधे एवं 6. जैविक प्रक्रियाएं 7. मानव।

4.5.3 पर्यावरण असंतुलन के कारण

आज के विकसित समाज में पर्यावरण प्रदूषण वर्तमान मानव की प्रमुख समस्याओं में से एक है। मनुष्य ने प्रारंभ से ही विज्ञान, तकनीक एवं औद्योगिक ज्ञान में अभूतपूर्व प्रगति की है और अधिक प्रगति जारी है। उसके समक्ष पर्यावरण असंतुलन की समस्या दिन प्रतिदिन गंभीर होती जा रही है। पर्यावरण असंतुलन की समस्या मनुष्य द्वारा पर्यावरण के अनुचित ढंग से उपयोग द्वारा उत्पन्न होती है। अदूरदर्शितापूर्ण प्राकृतिक संसाधनों का शोषण तथा पारिस्थितिकी संतुलन को नष्ट करना, पर्यावरण असंतुलन के आधारभूत कारण हैं। इस प्रकार से पर्यावरण असंतुलन का प्रधान दोषी एवं उत्तरदायी मनुष्य स्वयं है। मनुष्य अपनी अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वनों को काटता है, खनिज पदार्थों का शोषण करता है, अणु शक्ति का विस्फोट करता है, बांधों का निर्माण करता है। मानव के इन सब क्रिया–कलापों के कारण पारिस्थितिकी संतुलन परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि प्रकृति सदा इस संतुलन को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है फिर भी असंतुलन बढ़ रहा है।

1. नाभिकीय विस्फोट – आज पर्यावरण का संतुलन बिगड़ रहा है। इसका एक कारण है—नाभिकीय विस्फोट। वैज्ञानिक बतलाते हैं–यदि नाभिकीय युद्ध हुआ, अणुयुद्ध हुआ तो विश्व स्थिति में भारी परिवर्तन आएगा। सारी धरती और सारा आकाश धूल से भर जायेगा। कहीं तापमान कम हो जाएगा, कहीं तापमान बहुत अधिक बढ़ जायेगा। सारा जल और स्थल का भूभाग विषाक्त बन जाएगा। जीव जगत बिल्कुल नष्ट हो जाएगा। कहीं भयंकर सर्दी पड़ेगी, कहीं भयंकर गर्मी। सारे हिमखण्ड पिघल जाएंगे, समुद्र का जल स्तर 2–3 मीटर ऊंचा चला जाएगा। समुद्र तट पर बसे नगर और बस्तियां डूब जाएगी, उसके आस–पास का स्थल भूभाग जलमय बन जाएगा। एक प्रकार से हिमयुग आएगा, केवल पानी ही पानी दिखाई देगा। यह नाभिकीय विस्फोट और अणुयुद्ध से बनने वाली स्थिति है।

2. वनों की अंधाधुंध कटाई – आज वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है, उसके कारण Co_2 की मात्रा बढ़ती जा रही है। जितनी Co_2 की मात्रा बढ़ती है, उतना ही वातवरण दूषित होता चला जाता है, तापमान बढ़ जाता है, आज इतनी अनावश्यक गैसें जलाई जा रही हैं कि जिनके कारण वातावरण में आक्सीजन की मात्रा घटती जा रही है और कार्बनडाई ऑक्साइड बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि ओजोन की छतरी, जो एक सुरक्षा कवच है, टूटती चली जा रही है। कुछ देशों के इन करतबों का परिणाम सारे विश्व पर पड़ रहा है।

3. पानी का अपव्यय – पानी के अपव्यय से बचने की प्रेरणा महात्मा गांधी के जीवन से मिलती है। उन्होंने अपने जीवन में सदा अहिंसा को महत्व दिया। यदि जल का अपव्यय होने लगा तो वह दिन दूर नहीं होगा जब सारे नदी–नाले सूख जाएंगे। चारों ओर जल के लिए त्राहि–त्राहि मच जाएगी। जल का अपव्यय पर्यावरण असंतुलन का एक मुख्य कारण है। जल है तो आज पर्यावरण स्वस्थ है। पर्यावरण के उत्थान के लिए जल की अत्यंत आवश्यकता है। जल से ही पेड़–पौधों का विकास होता है और लाखों लोगों को जीवन दान मिलता है। परन्तु इस सच्चाई को लोग समझ नहीं पा रहे हैं और पानी का अपव्यय दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

4. बिजली का अपव्यय – प्राचीनकाल में बिजली का उत्पादन नहीं हुआ था, इसीलिए मनुष्य प्रकृति में जीता था। बिजली के उत्पादन ने मनुष्य को पराधीन बना दिया है। अब वह अंधेरे में रह नही सकता। पंखे या कूलर के बिना सो नहीं सकता तथा काम नहीं कर सकता, आज बिजली का जितना अपव्यय हो रहा है, उसके आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि आने वाले समय में भयंकर संकट उत्पन्न हो सकता है। बिजली का अपव्यय पर्यावरण असंतुलन का एक मुख्य कारण है।

5. वस्त्रों का असंयम – व्यक्ति का परिधान उसकी सभ्यता और संस्कृति का सूचक होता है। कुछ लोगों का ध्यान परिधान पर ही केन्द्रित रहता है। वे प्रतिदिन 3-4 बार वेश परिवर्तन कर लेते हैं, ऐसे लोग अपने व्यक्तित्व का पेरामीटर वेशभूषा को ही मानते हैं। अधिक वस्त्रों की जरूरत न होने पर भी उसे खरीदना भोगोपभोग की असीम लालसा का परिणाम है। पर्यावरण का दोहन है।

4.5.4 पर्यावरण : सुरक्षा और अहिंसा

अहिंसा का अर्थ है-संयम। जहां असंयम है वहां अहिंसा नहीं हो सकती, वहां हिंसा है और हिंसा से पर्यावरण की सुरक्षा नहीं हो सकती। यदि हम पर्यावरण की समस्या को सुलझाना चाहें तो अहिंसा का विकास जरूरी है। प्रश्न है, अहिंसा क्या है? पर्यावरण के क्षेत्र में अहिंसा से क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोडें आदि तथा पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा तथा वनस्पति आदि स्थावर जीवों के साथ एकता साधना ही अहिंसा की समुपासना है। पर्यावरण की सुरक्षा करने के लिए हमें अहिंसा का प्रयोग करना होगा। इसके लिए आवश्यक है-पृथ्वी का संयम, जल का सदुपयोग, अग्नि का संयम, वायु की सुरक्षा, वनस्पति का संयम अर्थात् उतना ही उपयोग जितना आवश्यक हो। इनका संयम ही अहिंसा है। इनका दुरुपयोग बिना आवश्यकता के प्रयोग करने, इनको सताना हिंसा है।

भगवान महावीर ने पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति— इन पांचों को जीव माना। उन्होंने कहा पृथ्वी, पानी आदि के जीवों को मनुष्य द्वारा चलित करने पर वैसे ही कष्टानुभूति होती है जैसे मूर्च्छित मनुष्य को प्राण वियोजन करने पर कष्ट होता है। अतः इनका संयम जरूरी है। इनके प्रति संयम की चेतना ही अहिंसा है। अहिंसा का एक अर्थ इन सूक्ष्म जीवों को अपनी असत् प्रकृति से कष्ट न पहुंचाना है। जब व्यक्ति इस यथार्थ को समझ जाता है। इन जीवों के प्रति संयम बरतता है तो अहिंसा फलित होती है और इस अहिंसा का फलित है—पर्यावरण की सुरक्षा। चूंकि पृथ्वी, पानी आदि हमारे पर्यावरण के ही अंग हैं।

आज पर्यावरण असुरक्षित है। इसका प्रमुख कारण ही है— पृथ्वी का अतिदोहन, पानी का अपव्यय, अग्नि का अत्युपयोग, वनों की कटाई। जब इनका संयम किया जाता है तब पर्यावरण की सुरक्षा स्वतः हो जाती है। अहिंसा कहा जाए या पर्यावरण की सुरक्षा दोनों एक ही है। अहिंसक चेतना के विकास के बिना पर्यावरण की सुरक्षा असम्भव है। इसलिए पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अहिंसा की भूमिका अपरिहार्य है। अहिंसक व्यक्ति पानी का उपयोग घी की तरह करता है। पृथ्वी, वनस्पति आदि सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान समझता है।

4.6 अहिंसा प्रशिक्षण

4.6.1 अहिंसा प्रशिक्षण की संभाव्यता

अब तक हम अहिंसा से अच्छी तरह से परिचित हो चुके हैं। प्रश्न है, प्रशिक्षण क्या है? सीधे शब्दों में कहें तो प्रशिक्षण का अर्थ है— सिखाना, तैयार करना। हिंसा मनुष्य के संस्कारों में रहती है। निमित्तों का योग पाकर वह प्रकट होती है। इसका कारण-हिंसा का प्रशिक्षण नियमित रूप से चल रहा है। उसमें उत्तरोतर दक्षता बढ़ती जा रही है। नये-नये साधन विकसित हो रहें हैं। आगे से आगे नई तकनीक खोजी जा रही हैं। परन्तु अहिंसा के प्रशिक्षण की कोई भी व्यवस्था नहीं है। उसके गुणगान किये जाते हैं पर उसके प्रशिक्षण की बात नहीं की जाती है। ऐसी स्थिति में यह आशा कैसे की जा सकती है कि अहिंसा आएगी और वह जीवन शैली से जुड़ेगी। बहुत लोगों को तो यह विश्वास ही नहीं है कि अहिंसा कुछ कर सकती है। जबकि हम सब मानते हैं कि हिंसात्मक युद्ध कला में शिक्षण और अनुशासन द्वारा भय का आवेश और पलायन की वृत्ति को नियंत्रित किया जाता है। यह बात संभव है। ठीक इसी तरह हमें यह भी संभव मानना चाहिए कि क्रोध का आवेश और लड़ाकू वृत्ति भी शिक्षण और अनुशासन से संयमित हो सकती है। गांधीजी ने इसके लिए जो प्रयास किये वो विस्मृत नहीं किये जा सकते। वे अनुकरणीय और अविस्मरणीय रहे। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार भी अहिंसा में असीम शक्ति है और उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

अन्तर्जगत् का प्रशिक्षण

हमारा अन्तर्जगत् बहुत बड़ा है। यह भावों का जगत् है। इसमें सकारात्मक, नकारात्मक दोनों प्रकार के भाव पैदा होते हैं। जब-जब नकारात्मक भाव पैदा होते हैं तब हिंसक प्रवृत्तियां जन्म लेती है। इसलिए नकारात्मक भावों का परिष्कार जरूरी है। इसके लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इसके लिए हमें अहिंसा के प्रायोगिक स्वरूप को समझना होगा। प्रायोगिक स्वरूप के दो बिंदु हैं— अन्तर्जगत और बाह्य जगत्। अन्तर्जगत् में प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण तत्व है—संवेग का संतुलन। भय, क्रोध, घृणा, कामुकता, सुख-दुःख आदि संवेग प्रतिक्रियात्मक भावों के रूप में अपना प्रभाव दिखाते हैं। इन पर नियंत्रण आवश्यक है। इनको नियंत्रित करने के लिए चैतन्यकेंद्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान और दीर्घश्वास के प्रयोग अपेक्षित हैं।

बाह्य जगत् का प्रशिक्षण

बाह्य जगत् के प्रशिक्षण को तीन रूपों में समझा जा सकता है—

1. मानवीय संबंधों का परिष्कार - मनुष्य के दृष्टिकोण को दो रूपों में देखा जाता है- मानवीय और अमानवीय। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? नीति सूत्रों द्वारा यह निर्धारित होता है। उस नीति के अनुसार व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण मानवीय कहलाता है। जो व्यक्ति दूसरों के हितों की उपेक्षा करता हो, उन्हें कुचल देता हो, किसी का शोषण करता हो या सताता हो, यह पाशवी वृत्ति कहलाती है। यह अमानवीय वृत्ति है। इस वृत्ति को बदलने से मानवीय सम्बंधो का परिष्कार हो सकता है।

2. प्राणी जगत के साथ सम्बंधों का परिष्कार - प्राणी जगत् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए? इस सन्दर्भ में मनुष्य को प्रशिक्षण दिया जाता तो अनावश्यक हिंसा नहीं होती। प्राणियों के प्रति निर्दयी व्यवहार नहीं होते और मानव समाज में विलासिता नहीं पनपती। क्रूर हिंसा जनित प्रसाधन सामग्री और परिधानों का उपयोग वे ही लोग कर सकते हैं जो प्राणियों के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करते। कुछ लोग मनोरंजन के लिए पशुओं को आपस में लड़ाते हैं। अहिंसा का प्रशिक्षण मनुष्य को इस प्रकार की क्रूरता से विरक्त कर सकता है।

3. पदार्थ जगत् के साथ सम्बन्धों की सीमाएँ - मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है—अधिकार की भावना। इसी भावना से प्रेरित होकर वह परिग्रह करता है। परिग्रह की चेतना मनुष्य के अस्तित्व को समाप्ति की ओर ले जाने वाली है। ऐसी स्थिति में प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है - पदार्थ के प्रति अनासक्ति का विकास। पदार्थ के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आते ही उसके संग्रह और उपभोग की सीमाएं अपने आप स्वीकृत हो जाती हैं।

4.6.2 अहिंसा प्रशिक्षण के सूत्र

कुछ चिन्तकों की अवधारणा है कि अहिंसा स्वाभाविक है। इसलिए उसका प्रशिक्षण नहीं दिया जा सकता। इस अवधारणा पर सापेक्ष दृष्टि से विचार करना होगा। अहिंसा का स्रोत स्वाभाविक है, हम इस सच्चाई को अस्वीकार न करें किन्तु इसके साथ इतना और जोड़ दें प्रशिक्षण के द्वारा अहिंसा की आस्था उत्पन्न की जा सकती है। अहिंसा का स्वाभाविक स्रोत कुछ लोगों में हो सकता है किन्तु यह नैसर्गिक शक्ति सब लोगों में नहीं होती। अधिकांश व्यक्ति अभ्यास और प्रशिक्षण के द्वारा ही विकास की मंजिल तक पहुंच पाते हैं। हमें इस बात को मानना होगा—

1. हिंसा के बीज प्रत्येक मनुष्य में हैं।
2. अहिंसा के बीज भी प्रत्येक मनुष्य में हैं।
3. हिंसा के निमित्त मिलते हैं तो उसके बीज प्रस्फुटित हो जाते हैं।
4. अहिंसा के निमित्त मिलते हैं तो उसके भी बीज प्रस्फुटित हो जाते हैं।

प्रशिक्षण का उद्देश्य है— अहिंसा के संस्कारों को प्रसुप्त कर अहिंसा के संस्कारों को जागृत करना। हिंसा उपजती है भाव तंत्र में, फिर वह विचार में उतरती है और फिर आचरण में। अत: अहिंसा के प्रशिक्षण का पहला साधन सूत्र है— भाव विशुद्धि। विधायक भाव हो, निषेधात्मक भाव न हो, इसके लिए शरीर और मन को प्रशिक्षित करना आवश्यक है।

1. शारीरिक प्रशिक्षण के सूत्र - शारीरिक प्रशिक्षण के सूत्र हैं—आसन और प्राणायाम। पद्मासन, शशांकासन, योग मुद्रा, वज्रासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, गोदोहिका आसन आदि। आसन, नाड़ी तंत्र और ग्रन्थि तंत्र को प्रभावित करते हैं। इनके द्वारा हिंसा के

शारीरिक कारण क्षीण होते हैं। अनुलोम-विलोम, चंद्रभेदी, नाड़ी शोधन, शीतली और उज्जाई प्राणायाम शरीर में उपस्थित हिंसा के बीजाणुओं को बाहर निकालते हैं।

2. मानसिक प्रशिक्षण के सूत्र - मानसिक प्रशिक्षण के सूत्र हैं—कायोत्सर्ग, दीर्घश्वास प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास प्रेक्षा आदि। ध्यान के प्रयोग मानसिक एकाग्रता के विकास में सहयोगी बनते हैं। चंचलता जितनी कम होती है, उतनी ही हिंसा कम होती है। चंचलता जितनी अधिक होती है, हिंसा उतनी ही अधिक होती है। इन प्रयोगों द्वारा चंचलता को कम किया जा सकता है।

3. भावात्मक प्रशिक्षण के सूत्र- शारीरिक और मानसिक प्रशिक्षण से भी अधिक महत्वपूर्ण है - भावात्मक प्रशिक्षण। उसके साधन सूत्र हैं - चैतन्य केन्द्र और लेश्याध्यान का ध्यान।

जब व्यक्ति बदलते हैं तब समाज अपने आप बदल जाता है। इसलिए पहले व्यक्ति को बदलना जरूरी है। उपरोक्त सूत्र किसी भी समाज के सदस्यों में परिवर्तन लाने के लिए अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी है। अत: अहिंसा का प्रशिक्षण व्यक्ति के स्तर पर ही होता है, समाज के स्तर पर उसका प्रयोग होता है। यह कहने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि अहिंसा के प्रशिक्षण की आधार भूमि है व्यक्ति और प्रयोग भूमि है समाज।

4.6.3 अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम

समाज रचना का महत्वपूर्ण घटक है - व्यक्ति की रचना। इसलिए **अहिंसक व्यक्ति रचना** प्रशिक्षण का पहला चरण होगा।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम प्रस्तुत किये हैं —

1. हृदय परिवर्तन- अहिंसा प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है — हृदय परिवर्तन। हृदय परिवर्तन का अर्थ है भाव परिवर्तन। भावों का उद्‌गम स्थान है मस्तिष्क का एक भाग लिम्बिक संस्थान। अत: इसे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण भी कहा गया है। हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र हैं - निषेधात्मक भावों के परिवर्तन का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों का उद्‌दीपन हमारे शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण होता है। अत: हृदय परिवर्तन का दूसरा सूत्र है शारीरिक स्वास्थ्य का प्रशिक्षण।

2. दृष्टिकोण परिवर्तन- अहिंसा प्रशिक्षण का दूसरा आयाम है - दृष्टिकोण परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएं और निरपेक्ष चिन्तन से एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएं, एकांगी दृष्टिकोण हिंसा के मुख्य कारणों में है। मनुष्य के अनेक मिथ्या धारणाएं बन गई है, यह मान लिया गया है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है जितने पदार्थ है सब मनुष्य के लिए हैं जितने प्राणी हैं उन सब पर मनुष्य का अधिकार हैं, इसीलिए मनुष्य उनका दोहन करता है। प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अंगों एवं चमड़े का उपयोग करता है। इन सारी क्रूरताओं का मूल कारण है मिथ्या दृष्टिकोण कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है।

3. जीवन शैली का परिवर्तन- आवश्यकता है आज कि सुविधावादी जीवन शैली में परिवर्तन हो। हम प्रदूषण से चिन्तित हैं, त्रस्त हैं परन्तु जीवन शैली पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। जीवन शैली परिवर्तन का एक महत्पूर्ण सूत्र हैं - सुविधावादी जीवन शैली में परिवर्तन। सुविधावादी जीवन शैली प्रदूषण पैदा कर रही है। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को पोषण मिल रहा है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, जीवन शैली में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी तब तक अहिंसा की बात का सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा। जीवन शैली का अनिवार्य अंग होना चाहिए- संयम और श्रम।

4. व्यवस्था परिवर्तन - अहिंसा प्रशिक्षण का चौथा आयाम है - व्यवस्था परिवर्तन। व्यवस्थाओं के मुख्यत: तीन पहलू हैं— आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा राजनैतिक व्यवस्था।

1. आर्थिक व्यवस्था — अर्थ की प्रकृति में ही हिंसा है। अत: आर्थिक व्यवस्था को पूर्णत अहिंसक नहीं बनाया जा सकता, परन्तु इससे होने वाले अपराध, क्रूर हिंसा, शोषण और विलासिता को अवश्य समाप्त किया जा सकता है। अहिंसक अर्थव्यवस्था में किसका उत्पादन हो और किसका न हो, इस पर ध्यान देना आवश्यक है। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएं है - रोटी, पानी, वस्त्र, मकान और शिक्षा। अहिंसक अर्थ व्यवस्था में अनिवार्य आवश्यकताओं की सामग्रियों का उत्पादन ही मान्य हो सकता है और अनावश्यक पदार्थों जैसे - मादक द्रव्य, अस्त्र, शस्त्र, शृंगार की सामग्री एवं विलासिता की सामग्री का उत्पादन मान्य नहीं हो सकता।

2. सामाजिक व्यवस्था — मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज में जीता है। समाज ही उसके उन्नति एवं अवनति का मुख्य आधार है परन्तु वर्तमान समाज में अनेक प्रकार की हिंसा पाई जाती है - आक्रामक हिंसा, निरपराध व्यक्तियों की हत्या, भ्रूण हत्या, जातीय घृणा, छूआछूत आदि। यह हिंसाएँ समाज के सदस्यों को पीड़ित करती है। उसके विकास में बाधा डालती है। इसलिए वर्जनीय

है। अहिंसक सामाजिक व्यवस्था में इन वर्जनीय कार्यों को स्थान नहीं मिल सकता।

3. राजनैतिक व्यवस्था — अहिंसा पर आधारित राजनीति वह है, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। जहां व्यक्ति और राष्ट्र का सम्बन्ध मात्र यान्त्रिक नहीं होता, व्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल्यांकन किया जाता है। व्यक्ति का राष्ट्र के साथ सम्बन्ध होता है तो व्यक्ति की स्वतंत्रता भी आत्मानुशासित और अक्षुण्ण होती है। अच्छी राजनीति का लक्ष्य है व्यक्ति का हित और मानव कल्याण। अर्थात् राज्य को विधि व्यवस्था से पूर्व व्यक्ति निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करने चाहिए।

4.6.4 अहिंसा-प्रशिक्षण के दो पहलू

अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयामों के विकास के बाद इसे और अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस पर दो पहलुओं से विचार किया—आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक। अहिंसा प्रशिक्षण का आध्यात्मिक पहलू है—अहिंसा की चेतना को जागृत करना और अहिंसा के संस्कार का निर्माण करना।

अहिंसा प्रशिक्षण का व्यावहारिक पहलू है—अपेक्षानुसार आजीविका की विधियों का प्रशिक्षण।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस बात को दृढ़ता से प्रस्तुत करते हुए कहा—"मेरा मानना है—गरीबी, शोषण, अपराध और प्रदूषण जैसी समस्याओं को केवल आध्यात्मिक प्रशिक्षण एवं समाज व्यवस्था के परिवर्तन से ही नहीं सुलझाया जा सकता। उन्हें अहिंसा की चेतना के जागरण तथा आजीविका की प्रविधि के प्रशिक्षण से समाहित किया जा सकता है।"

बोध प्रश्न-2

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये —

(1) अहिंसात्मक प्रतिरोध किसे कहते हैं? वर्तमान में इसकी अनिवार्यता पर प्रकाश डालें।
(2) अहिंसा का विरोधी पक्ष पर कैसे प्रभाव पड़ता है? स्पष्ट करें।
(3) पर्यावरण सुरक्षा के लिए अहिंसा की आवश्यकता सिद्ध करें।
(4) पर्यावरण असंतुलन के कारणों की चर्चा करते हुए इसके समाधान पर प्रकाश डालें।
(5) अहिंसा प्रशिक्षण से आप क्या समझते हैं? विस्तार से लिखे।
(6) अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम कौन-से हैं? चर्चा करें।

इकाई-5 (क) व्रत-स्वरूप, अणुव्रत और समाज-कल्याण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 व्रत : स्वरूप
  5.2.1 व्रत : अर्थ एवं परिभाषाएँ
  5.2.2 व्रत के भेद
  5.2.3 श्रावक के बारह व्रत
5.3 व्रत : महत्त्व
  5.3.1 शारीरिक महत्त्व
  5.3.2 मानसिक महत्त्व
5.4 अणुव्रत : स्वरूप
  5.4.1 अणुव्रत : अर्थ
  5.4.2 अणुव्रत : भाषा और भावना
  5.4.3 अणुव्रत का आधार : संयम
5.5 वर्तमान समाज एवं प्रतिरोधात्मक शक्ति
  5.5.1 वर्तमान समाज : स्वरूप
  5.5.2 प्रतिरोधात्मक शक्ति : अर्थ
  5.5.3 अणुव्रत एक प्रतिरोधात्मक शक्ति

5.0 उद्देश्य

'व्रत—स्वरूप, अणुव्रत और समाज कल्याण' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- व्रत एवं उसके भेद को समझ सकेंगे।
- श्रावक के व्रतों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- व्रतों की शारीरिक एवं मानसिक महत्ता को समझ सकेंगे।
- अणुव्रत की भाषा और भावना को अच्छी तरह समझ सकेंगे।
- वर्तमान समाज सुधार के लिए अणुव्रत क्यों उपयोगी है, जान पायेंगे।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय तत्त्व चिन्तकों ने मानव जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता के उपायों पर गहराई से चिन्तन किया है। मनुष्य जीवन दुर्लभ है। इसके पीछे एक ही कारण है— मनुष्य की श्रेष्ठता। आहार, निद्रा, भय आदि बातें सभी प्राणियों में समान रूप से पाई जाती हैं किन्तु मानव की यह विशेषता है कि वह अपने जीवन को समुन्नत बनाने के लिए नियम, व्रत आदि की आराधना, पालना कर सकता है। अपने विचारों व प्रवृत्तियों पर संयम का अंकुश लगा सकता है।

इस इकाई में हम व्रत क्या है? और उसके कितने भेद हैं? तथा व्रत का एक भेद अणुव्रत के स्वरूप पर विचार करेंगे। आज समाज को सुदृढ़, शक्तिशाली, स्वस्थ बनाने के लिए संयम की आवश्यकता है। संयम के संदर्भ में महावीर ने गृहस्थ के लिए जो आचार संहिता प्रस्तुत की, उसे आचार्य तुलसी ने आधुनिक युग के लिए आधुनिक ढंग से पेश किया और आज वह समाज में पनपने वाली बुराइयों के लिए प्रतिरोध का कार्य किस प्रकार कर रही है, इसकी विस्तृत जानकारी हमें इस इकाई में करना है।

5.2 व्रत : स्वरूप

5.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

जब तक जीवन में व्रत है, तभी तक जीवन है। वर्तमान युग में मनुष्य जिस त्रासदी को भोग रहा है, वह व्रतहीन संस्कृति को जीने का दुष्परिणाम है। व्रती समाज का निर्माण हो इसके लिए आवश्यक है—व्रतों को समझना।

किसी कार्य को करने या ना करने का मानसिक नियोजन व्रत कहलाता है। व्यवहार की भाषा में इसे संकल्प भी कहा जाता है। संकल्प व व्रत दोनों ही मानसिक निर्णय है परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि संकल्प शुभ और अशुभ, अच्छे और बुरे दोनों हो सकते है किन्तु व्रत शुभ ही होते हैं। व्रत का एक अर्थ नियम ग्रहण भी किया गया है। 'अमरकोश' में व्रत और नियम को एकार्थक माना गया है। मेदिनी कोश के अनुसार नियम, प्रतिज्ञा, निश्चय आदि व्रत के पर्यायवाची हैं। आप्टे के अनुसार व्रत का अर्थ है—भक्ति या साधना, धार्मिक कृत्य, प्रतिज्ञा का पालन, प्रतिज्ञा, संकल्प और आचरण।

हिन्दी शब्द सागर में व्रत शब्द को अनेक अर्थों में अभिव्यक्ति मिली है जो उपर्युक्त सभी अर्थों को समेटे हुए है— धार्मिक अनुष्ठान, धार्मिक नियम, संयम आदि जीवन चर्या, आचरण, नियम और कर्म।

व्रत को परिभाषित करते हुए कहा गया- ''स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिर्वर्तन इति निश्चय व्रत'' अपनी आत्मा से अपनी आत्मा में प्रवृत्ति करने का निश्चय व्रत है।

व्रत शब्द चार धातुओं से निष्पन्न होता है—वृञ-वरणे, वृतु-वर्तने, वृङ्-संभक्तौ, व्रज-गतौ।

इन विभिन्न धातुओं के आधार पर व्रत शब्द के निम्नांकित अर्थ इस प्रकार हैं—

○ **व्रियते इति व्रतः** जिसका वरण किया जाए वह व्रत है।

○ **वृणीते इति वा व्रतः** सेवा करना, परिचर्या करना व्रत है। दूसरे शब्दों में जो आत्मा का सम्यक् पोषण करे वह व्रत है।

○ **वर्तते इति वा व्रतः** जिसका व्यवहार किया जाता है, आचरण किया जाता है, उसे व्रत कहा जाता है।

○ **व्रजति इति वा व्रतः** जो आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति कराए उसे व्रत कहते हैं।

वैदिक साहित्य में कहा गया—''अन्नं वै व्रतम्'' व्रत अन्न है क्योंकि वह शरीर को पुष्ट करता है।

वैदिक परम्परा में भी सत्य प्राप्ति के लिए व्रत और दीक्षा को महत्त्व दिया गया है। यजुर्वेद में लिखा गया है—

''व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षाया प्राप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते॥''

व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।

आचार्य पतंजलि ने योग साधना के लिए यम और नियम पर बल दिया है।

बुद्ध ने जीवनोत्थान के लिए पंचशील और दशशील का विधान किया है। उनके अनुसार जो व्रतहीन है, मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने से मात्र श्रमण नहीं होता।

जैन तीर्थंकरों ने तो व्रत को कर्म विशोधन के महत उपाय के रूप में मान्यता दी है।

5.2.2 व्रत के भेद

व्रत को दो वर्गों में विभाजित किया गया—महाव्रत और अणुव्रत। किसी सीमा के बिना अर्थात् सम्पूर्ण रूप से पूरे जीवन के लिए स्वीकार किये जाने वाले व्रत महाव्रत और सीमा के साथ अपनी योग्यता अपनी क्षमता के अनुरूप स्वीकार किये जाने वाले व्रत— अणुव्रत कहलाते हैं। कोई व्यक्ति अपने पूरे जीवन काल में मैं झूठ नहीं बोलूंगा। इस प्रकार यदि नियम स्वीकार करता है तो वह महाव्रत के अन्तर्गत आता है और वहीं कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर यदि चोरी न करने का, असत्य आदि का प्रयोग न करने का एक निश्चित अवधि के लिए या जीवन भर के लिए संकल्प स्वीकार करता है तो वह अणुव्रत के अन्तर्गत आता है।

वस्तुतः व्रत अपने आप में पूर्ण ही होता है किन्तु आचरण (पालन करने) की क्षमता सबमें समान नहीं होती, इसलिए इसके दो स्तर किये गये। स्वरूप की दृष्टि से तो व्रत एक ही है। व्रत का काम है- आत्मा और उसे अपवित्र, कलुषित बनाने वाली दुनियां के बीच में दीवार खड़ी करना।

तत्वार्थ सूत्र में कहा गया—''**हिंसानृत-स्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्**''—हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह

से विरति ही व्रत है। इन पांचों की पूर्ण विरति महाव्रत एवं सीमा सहित विरति अणुव्रत है। भगवान महावीर ने गृहस्थ धर्म का पालन करने वालों के लिए बारह अणुव्रतों का प्रतिपादन किया जो श्रावक के बारह व्रत कहलाए।

5.2.3 श्रावक के बारह व्रत

जो सर्वज्ञ भाषित तत्त्व में श्रद्धा रखता है। जो कर्म मल को दूर करता है अथवा जो सर्वज्ञ भगवान की वाणी को सुनता है, उसे श्रावक कहते हैं। श्रमणों, साधुओं की उपासना सेवा करने से श्रावक को श्रमणों का उपासक भी कहा गया। श्रमणोपासक के लिए निर्देशित यह बारह नियम समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए ग्रहण करने योग्य हैं।

1. अहिंसा अणुव्रत- इस अणुव्रत में स्थूल हिंसा से बचने का संकल्प होता है। निरपराध त्रस प्राणियों की संकल्पपूर्वक हिंसा स्थूल हिंसा कहलाती है। हिंसा का सम्बन्ध केवल प्राणवियोजन मात्र से नहीं है। शरीर, मन, वचन किसी की भी असत् प्रवृत्ति से होने वाला घात हिंसा है। अणुव्रती श्रावक सूक्ष्म हिंसा को छोड़ नहीं सकता। परन्तु स्थूल हिंसा से विरत होता है। अहिंसा व्रत की सुरक्षा के लिए अणुव्रती व्यक्ति किसी का वध नहीं करता, किसी को बन्धन में नहीं डालता, किसी का अंग-भंग नहीं करता, किसी मनुष्य या पशु पर अतिभार नहीं लादता, किसी की आजीविका का विच्छेद नहीं करता और आगजनी जैसे क्रूर कर्म नहीं करता।

2. सत्य अणुव्रत- दूसरा व्रत सत्य अणुव्रत है। सत्य अणुव्रत में व्यक्ति स्थूल असत्य का परिहार करता है। इस व्रत के अनुसार व्यक्ति किसी पर असत्य दोष का आरोपण नहीं करता, किसी ने गुप्त बात कही हो तो उसका भेदन नहीं कर सकता। किसी भी व्यक्ति को असत्य संभाषण के लिए प्रेरित नहीं कर सकता और झूठा हस्ताक्षर नहीं कर सकता। इसके अलावा इस व्रत को स्वीकार करने वाला वैवाहिक सम्बन्ध, पशु-विक्रय, भूमि-विक्रय धरोहर साक्षी आदि के सम्बन्ध में असत्य का परिहार करता है। इस प्रकार सत्य की साधना से अहिंसा को पोषण मिलता है और अहिंसा सत्य को बल देती है।

3. अस्तेय अणुव्रत- तीसरा अणुव्रत अस्तेय अणुव्रत है। जिसका अर्थ है चोरी न करना। इस अणुव्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति ताला तोड़ना, जेब कतरना, डाका डालना और दूसरों के स्वामित्व का अपहरण जैसी जघन्य प्रवृत्तियों का परिहार करता है। इसके अलावा कूटतोल-माप नहीं कर सकता।

4. ब्रह्मचर्य अणुव्रत- ब्रह्मचर्य अणुव्रत का सम्बन्ध व्यक्ति की वृत्तिगत पवित्रता से है। विवाहित पति या पत्नी के अतिरिक्त किसी भी स्त्री-पुरुष के प्रति विषय-वासनापरक चिंतन, वाणी और चेष्टा का परिहार करना इस व्रत का उद्देश्य है। इस व्रत की साधना से साधक ऊर्जस्वी जीवन जीता हुआ परम आह्लाद की अनुभूतियों में लीन हो जाता है।

5. अपरिग्रह अणुव्रत- पांचवें अणुव्रत में आवश्यकता और आकांक्षा को नियन्त्रित करने का निर्देश है। इस व्रत में व्यक्ति, भूमि, मकान आदि की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। वस्तुतः परिग्रह दो प्रकार का होता है- वस्तुपरक और मूर्च्छापरक। मूर्च्छा टूट जाए तो वस्तु के होने या न होने से व्यक्ति को कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन जब तक पदार्थ की मूर्च्छा नहीं टूटती तब तक उसे कम करने के लिए उसे वस्तु या पदार्थ की सीमा करना आवश्यक है। आवश्यकता से अधिक वस्तु संग्रह परिग्रह है। यद्यपि आवश्यकता की सीमा का निर्धारण बहुत कठिन है। अपरिग्रह अणुव्रत की साधना करने वाला व्यक्ति अपने व्यवहार में प्राप्त भूमि, मकान ही नहीं पशु-पक्षी, सोना-चांदी, रत्न, धान्य, गृह सामग्री आदि का सीमांकन कर अपनी लालसा का संवरण करता है।

उक्त पांच अणुव्रत जैन आगमों में प्रतिपादित जन-साधारण की आचार संहिता का मूल आधार है। विश्व का कोई भी व्यक्ति इन व्रतों की भावना के अनुसार अपने जीवन, समाज और राष्ट्र का चारित्रिक अभ्युदय देख सकता है। भगवान महावीर ने इन सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए कुछ और सूत्र दिये। इन सूत्रों को गुणव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में मान्य किया गया है।

6. दिग्परिमाण व्रत- छठा व्रत या प्रथम शिक्षाव्रत दसों दिशाओं में गमनागमन सम्बन्धी सीमा का निर्धारण करता है। इस व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति ऊर्ध्वदिशा, अधःदिशा और तिर्यक् दिशा के परिमाण का अतिक्रमण नहीं कर सकता। इन दिशाओं में आने जाने की सीमा करता है। केवल स्वयं ही नहीं वस्तु, पदार्थ आदि भेजने और मंगवाने का मर्यादा उपरान्त त्याग करता है। यातायात के साधनों को सीमित कर निर्धारित क्षेत्र से बाहर अपने हस्तक्षेप का संवरण करता है।

7. उपभोग-परिभोग विरमण व्रत- सातवां व्रत उपभोग-परिभोग की सामग्री को सीमित करता है। यह सीमा दो प्रकार से होती है- भोजन की दृष्टि से और कर्म की दृष्टि से। भोजन की दृष्टि से सचित्त (जीव-सहित) भोजन, सचित्त मिश्रित भोजन, अपक्व भोजन, अर्धपक्व भोजन और ऐसी तुच्छ औषधियाँ जिनसे लाभ कम हो और हिंसा अधिक हो, व्रती व्यक्ति के लिए त्याज्य है।

कर्म की दृष्टि से अंगारे बनाना और बेचना, जंगल कटवाना, पत्थर और लोहे आदि की खाने खुदवाना, दास-दासी गाय, ऊँट, भेड़ों के केशों का व्यापार करना, अफीम बनाना-बेचना, नाक-कान आदि अवयव काटने का धंधा करना, क्षेत्र साफ करने के लिए वन

में अग्नि का प्रयोग करना आदि कर्म सातवें व्रत में त्याज्य हैं।

8. अनर्थदण्डविरमण व्रत – हिंसा दो प्रकार की होती है — अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा। व्यक्ति समाज में रहता है। सामाजिक प्राणी है, उसे अपने एवं अपने परिवार समाज के लिए कुछ हिंसा अनिवार्यतः करनी पड़ती है। इस हिंसा को अर्थ हिंसा या अर्थदण्ड कहा जाता है। तथा केवल हास्य, कौतुहल, अविवेक, प्रमादवश की जाने वाली हिंसा अनर्थ हिंसा है। जैसे पानी में पत्थर फेंकना, चलते पशु पर प्रहार करना, फूल तोड़ना आदि। श्रावक के लिए अनर्थ हिंसा त्याज्य है। आठवें व्रत में श्रावक अनर्थ हिंसा अर्थात् अनर्थदण्ड का त्याग करता है।

9. सामायिक व्रत– नवें व्रत में व्रती व्यक्ति मन, वचन और शरीर की असत् प्रवृत्ति का निरोध करता है। इस व्रत में श्रावक एक मुहूर्त्त अर्थात् 48 मिनट के लिए सभी प्रकार की सावद्यकारी (पापकारी) प्रवृत्ति का त्याग करता है। सामायिक की अवधि के दौरान खुले मुंह बात नहीं करना होता। नीचे देखे बिना चलना या इधर–उधर घूमना नहीं होता।

10. देशवकाशिक व्रत– इस व्रत को धारण करने वाला घड़ी, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि काल की मर्यादा करके हिंसा असत्य आदि पापों का त्याग करता है। नवकारसी, एकासन, उपवास, रात्रिभोजन न करना, मौन करना आदि नियम इसी व्रत के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः काल की मर्यादा करके जो नियम किये जायें वह इसी व्रत के अन्तर्गत आते हैं।

11. पौषधोपवास– ग्यारहवां व्रत एक विशेष प्रकार की साधना है। इस व्रत की आराधना करने वाला एक दिन–रात के लिए गृहस्थ जीवन की चर्या से मुक्त होकर स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि माध्यमों से अपनी चेतना को अन्तर्मुखी बनाने का प्रयत्न करता है। वैसे पौषध अष्ट प्रहरी (एक दिन–रात के अतिरिक्त वर्तमान में), षट् प्रहरी और चतुर्थ प्रहरी किया जाता है।

12. अतिथि–संविभाग– जिसके आने की कोई तिथि निर्धारित न हो वह अतिथि कहलाते हैं। इस अर्थ में भिक्षार्थ आए हुए साधु भी अतिथि हैं। भिक्षार्थ आए हुए त्यागी साधु को अपने लिए बनी हुई चीज में से दान देना अतिथि संविभाग कहलाता है।

5.3 व्रत : महत्व

व्रत एक अटल निश्चय है, जब तक मानव व्रत ग्रहण नहीं करता तब तक उसका मन अस्त–व्यस्त रहता है। व्रत एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। व्रत को ग्रहण करना, एक प्रकार से प्रतिज्ञाबद्ध होना है।

तालाब है, परन्तु उस तालाब के यदि पाल नहीं है तो वर्षा ऋतु में वह तालाब पानी से लबालब भर जाता है और वह खतरे की घंटी बन जाता है। वही स्थिति बिना तट के नदी की है। जब उसमें बाढ़ आती है, तब वह प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देती है। व्रतविहीन व्यक्ति तटहीन नदी की भाँति उच्छृंखल और स्वच्छन्द है, वह कभी भी प्रलय की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। व्रत मानव जीवन के लिए पाल के सदृश है। जो स्वच्छन्द चलते हुए जीवन–प्रवाह को मर्यादित बनाता है। व्रत समाज, राष्ट्र और परिवार की सुव्यवस्था, सुरक्षा और सुख–शान्ति के लिए तो आवश्यक है ही, किन्तु इन्द्रिय शरीर और मन पर भी व्रत का गहरा प्रभाव पड़ता है।

5.3.1 व्रत का शारीरिक महत्त्व

मानव शरीर की संरचना बड़े व्यवस्थित ढ़ंग से की गई है। इसके 11 तन्त्र हर क्षण अपने कार्य का संचालन करने में लगे हुए रहते हैं। इन तन्त्रों का सम्यक् कार्य संचालन शारीरिक स्वस्थता का प्रतीक है। इन तन्त्रों के कार्य स्तर में गिरावट आना या बढ़ोतरी होना मनुष्य के लिए खतरा पैदा कर देती है या मनुष्य की प्रसन्नता को अस्त–व्यस्त कर देती है।

शरीर रूपी यन्त्र के कार्य में बाधा पहुंचाने वाला, गड़बड़ी पैदा करने वाला कोई ओर नहीं मानव स्वयं ही है। जब–जब मन में नकारात्मक भाव, हिंसा, चोरी, असत्य आदि उत्पन्न होते हैं, शरीर की कार्यविधि गड़बड़ा जाती है।

1. शरीर की किसी भी क्रिया के निष्पादन में मस्तिष्क का सबसे महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। मस्तिष्क की आज्ञा के बिना एक नर्व भी संचालित नहीं होती, प्रतिवर्ती क्रियाओं (reflex action) को छोड़कर किसी भी कार्य संचालन के लिए, चाहे एक अंगुली भी क्यों न हिलाना हो मस्तिष्क का आदेश चाहिए।

अस्तु जब–जब मनुष्य के भीतर हिंसा, चोरी या असत्य आदि के भाव उठते हैं, मस्तिष्क को उन न्यूरोट्रांसमीटर्स को स्रावित करना होता है, जो व्यक्ति को हिंसा करने के लिए उद्यत कर सके, उसे क्रूर बना सके। नकारात्मक या क्रूरता को पैदा करने वाले स्रावों को, रसायनों को पैदा करने के लिए मस्तिष्क को सामान्य से भिन्न कार्यविधियों को काम में लेना पड़ता है। यह स्राव और रसायन पैदा होकर व्यक्ति को हिंसा के लिए प्रेरित करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक हिंसक रसायनों का निर्माण नहीं होता व्यक्ति कितना भी चाहे हिंसा नहीं कर सकता। हिंसा, चोरी या किसी भी गलत कार्य के लिए उसी प्रकार के स्रावों का स्रावित होना जरूरी है।

ये स्राव जो शरीर के भीतर पैदा होते हैं। शरीर के बाहर अपना कार्य करने से पूर्व भीतर अपनी जन्मस्थली पर भी अपना नकारात्मक प्रभाव अवश्य छोड़ते हैं। शरीर को अधिकतम मात्रा में इनके कुप्रभाव को सहना पड़ता है। यह क्रियाएँ जब बार-बार घटित होती हैं तो व्यक्ति जाने-अनजाने बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है। क्योंकि शनैः-शनैः नकारात्मक प्रभावों से हमारा शरीर कमजोर हो जाता है। अतः आवश्यक है शरीर के भीतर ऐसे विषैले तत्त्व पैदा ही न हों। शरीर के भीतर ऐसे विषैले तत्त्व पैदा न हो इसके लिए आवश्यक है— व्रत। क्योंकि व्रत का अर्थ ही है हिंसा न करने का, चोरी न करने का, अनावश्यक परिग्रह न करने का, असत्य न बोलने का मानसिक संकल्प या नियंत्रण।

2. हमारे शरीर के भीतर एक तन्त्र है— स्वायत्तशासी तन्त्र। यह मस्तिष्क से स्वतन्त्र अपनी इच्छा के अनुसार कार्य का संचालन करता है। इस तन्त्र के दो भाग हैं— अनुकम्पी नाड़ी तंत्र एवं परानुकम्पी नाड़ी तन्त्र। अनुकम्पी नाड़ी तन्त्र जहाँ शरीर के भीतरी अवयवों को कार्य करने में सक्रियता प्रदान करता है, वहीं परानुकम्पी कार्यों में आवश्यकता अनुसार शिथिलता लाता है। शरीर को सुचारू रूप से चलाने के लिए इन दोनों का सन्तुलन जरूरी है। लेकिन व्यक्ति जब कभी झूठ बोलता है, हिंसा करने की सोचता है या करता है, चोरी करता है, तब-तब उसका अनुकम्पी नाड़ी तन्त्र अधिक सक्रिय हो जाता है। और शरीर के भीतरी अवयव, जैसे-हृदय, फेफड़े एवं विसर्जन-तन्त्र आदि को सीमा से अधिक सक्रिय कर देते हैं, जिसके कारण शारीरिक ऊर्जा का अधिक अपव्यय होता है। सभी अवयव सामान्य-अनुपात से अधिक स्तर पर काम करने से थक जाते हैं एवं ग्लुकोज की अधिक मात्रा में खपत होती है। दूसरी ओर परानुकम्पी की सक्रियता पाचन-तन्त्र को मन्द कर देती है। इस प्रकार हिंसा आदि नकारात्मक भावों के पैदा होने से व्यक्ति प्रायः जल्दी विभिन्न बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है। अतः व्यक्ति को इनसे बचने का उपाय अपनाने चाहिए। क्योंकि शारीरिक अस्वस्थता का मूल कारण हिंसा, चोरी, असत्य आदि अमानवीय कार्य ही है और इनसे बचने का सीधा तरीका है— व्रतों को ग्रहण करना। व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार, अपने सामर्थ्य के अनुसार इन व्रतों को ग्रहण कर अपने आपको स्वस्थ रख सकता है।

5.3.2 व्रत का मानसिक महत्त्व

व्रत ग्रहण करने वालों की मानसिक प्रसन्नता कभी खण्डित नहीं होती चूंकि शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी शरीर का मन पर और मन का शरीर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बहुत बार शरीर के कारण मन अस्वस्थ हो उठता है तो बहुत बार मन की चंचलता, गलत विचार व्यक्ति के शरीर को प्रभावित करते हैं लेकिन जब व्यक्ति व्रत ग्रहण करता है तब उसके मन में चोरी, हिंसा आदि के भाव ही पैदा नहीं होते। प्रतिकूल परिस्थितियाँ आने पर भी वह जानता है कि उसे हिंसा नहीं करनी है, असत्य का संभाषण नहीं करना है, चोरी नहीं करनी है अपितु उन परिस्थितियों को सहन करना है। जब ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं तब कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न आए मानसिक प्रसन्नता बनी रहती है। व्रतों को ग्रहण करने वालों के मन में नकारात्मक भाव उत्पन्न न होने के कारण सदैव मानसिक प्रसन्नता बनी रहती है।

5.3.3 बारह व्रतों का आधुनिकीकरण

जैसा कि हमने जाना व्रतों का अपना महत्त्व है। यह शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टि से हमारे लिए ग्रहण करने योग्य हैं परन्तु भगवान महावीर ने जिन श्रावक के बारह व्रतों का विधान किया, उनमें क्षेत्र, काल, परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ कठिनाई महसूस की जाने लगी। व्रतों के महत्त्व को जानते हुए भी भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त 12 अणुव्रतों का पालन आज की युवा पीढ़ी के लिए असम्भव सा प्रतीत होने लगा। इसके अलावा आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन और शान बढ़ाने में लगा हुआ है। फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा की इस अंधी दौड़ में अपने अस्तित्व को बनाए रखना उसके लिए बहुत बड़ी चुनौती बन गई है। इन कठिनाइयों के कारण एक धार्मिक अथवा संस्कारित व्यक्ति चाहते हुए भी उन नियमों का पालन नहीं कर सकता था। फलस्वरूप गृहस्थ अनुयायियों की इसी विवशता को ध्यान में रखते हुए आचार्य तुलसी ने बारह व्रतों का सरलीकरण किया। उसे युग के अनुरूप निर्मित कर समाज के समक्ष एक आचार संहिता प्रस्तुत की, जो अणुव्रत के नाम से प्रख्यात हुई।

बोध प्रश्न-1

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

(1) व्रत से आप क्या समझते हैं? व्रत के भेद को स्पष्ट करें।

(2) श्रावक के बारह व्रतों को समझाइये।

(3) व्रतों की महत्ता पर प्रकाश डालें।

5.4 अणुव्रत : स्वरूप

5.4.1 अणुव्रत : अर्थ

अणुव्रत दो शब्दों से बना है-अणु+व्रत। अणु शब्द का अर्थ है- छोटा और व्रत का अर्थ है- नियम। अतः सम्पूर्ण रूप से अणुव्रत का अर्थ है- छोटे-छोटे नियम।

मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली प्राणी है। उसमें अनेक अवगुण भी हैं किन्तु उसके पास वह शक्ति भी विद्यमान है, जिससे वह अपने समस्त अवगुणों का स्वयं या किसी के बताने पर परित्याग कर सकता है। संकल्प के द्वारा वह अपने आपको बदल सकता है। इस अर्थ में अणुव्रत का अर्थ है—चारित्रिक विकास के लिए किये जाने वाला संकल्प।

ढाई हजार वर्ष पूर्व अमानवीय दृष्टिकोण ने सामाजिक व्यवस्था को खोखला कर दिया था। जातिवाद, दासप्रथा हिंसक यज्ञ, भेदभाव, असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता के कारण समाज संतप्त था, दु:खी था। ऐसे समय में समाज में आध्यात्मिक व नैतिक मूल्यों को स्थापित करने तथा व्यक्ति को आध्यात्मिक ऊँचाई प्रदान करने के लिए भगवान महावीर ने व्रतों का प्रतिपादन किया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यही पाँच व्रत अणुव्रत कहलाये।

भारत-भूमि ऋषियों की भूमि है। इसमें समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने तथा ऋषियों ने अपने जीवन के अमूल्य अनुभवों से उपदेश की गंगा बहाई और उत्पथगामी संसार को सत्पथ पर लाने का सफल प्रयत्न किया। अणुव्रत भी इसी ओर उठाया गया कदम है। हिंसा जीवन का पूर्ण असंयम है और अहिंसा जीवन का पूर्ण संयम। पूर्ण असंयम में रहना मनुष्य के लिए अहितकर है तो पूर्ण संयम की साधना कठिन है। अणुव्रत इसी चिन्तन का निष्कर्ष है कि मनुष्य पूर्ण संयम न कर सके तो न्यूनतम संयम अवश्य करे। न्यूनतम संयम ही अणुव्रत है।

किसी भी राष्ट्र को विकास की ऊँचाइयाँ छूने के लिए जनता को अपनी दिशा बदलने के लिए आह्वान किया जाता है। जन-भावना में परिवर्तन होते ही राष्ट्र के व्यक्तित्व में रूपान्तरण घटित हो जाता है। अणुव्रत एक ऐसा ही दर्शन है। जो व्यक्ति के भावों को बदलता है।

5.4.2 अणुव्रत : भाषा और भावना

भाषा को परिभाषित करते हुए कहा गया—''**अर्थम् वञ्जयतीति भाषा**'' जो अर्थ का भाषण करे वह भाषा है। भाषा के सन्दर्भ में दूसरी परिभाषा दी गई '**भाष्यते इति भाषा**' जो बोली जाती है, वह भाषा है।

समाज निर्माण में भाषा का अपूर्व योगदान है। क्योंकि भाषा आदान-प्रदान का एक ऐसा माध्यम है, जिससे व्यक्ति अपने भावों को अभिव्यक्ति देकर एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। भाषा की अभिव्यक्ति से ज्ञान का विस्तार हुआ। व्यक्ति-व्यक्ति में परस्पर गहरे सम्बन्ध स्थापित हुए। भाषा को चित्र एवं वर्णमाला के द्वारा सुरक्षित रख, उस ज्ञानराशि को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुंचाया गया।

अणुव्रत की भी अपनी भाषा है, जैसे—मैं चलने फिरने वाले निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करुंगा। मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रमण नीति का समर्थन भी नहीं करुंगा। मैं अहिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा। मैं मानवीय एकता में विश्वास रखूंगा। मैं सब धर्म-सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णुता का भाव रखूंगा। मैं व्यवसाय और व्यवहार में सत्य की साधना करूंगा। मैं चोर वृत्ति से किसी की वस्तु नहीं लूंगा। मैं स्वदार (अपनी पत्नी में) सन्तोषी रहता हुआ ब्रह्मचर्य की साधना करूंगा। मैं रूपये और अन्य प्रलोभन से वोट न लूंगा और न दूंगा। मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा। मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

भाषा के प्रयोग द्वारा जहाँ परस्पर आदान-प्रदान, सौहार्द सद्‌भाव, मैत्री और प्रेम का व्यवहार होता है, वहाँ उसके प्रयोग से असद्व्यवहार, घृणा, द्वेष, क्लेश और शत्रुता का व्यवहार भी हो सकता है। भाषा का प्रयोग विकास के लिए किया जाता है उसी तरह विनाश के लिए भी किया जा सकता है।

वस्तुतः भाषा महत्त्वपूर्ण है परन्तु भाषा से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है भाषा के पीछे छिपी हुई भावना। इन व्रतों की अपनी भावना है। भावना को परिभाषित करते हुए कहा गया—''भावयतीति भावना'' जो भावित या संस्कारित करती है। वह भावना है। सरल शब्दों में समझा जाए तो भावना का अर्थ है, भाषा के पीछे छिपा हुआ अर्थ। भावना को समझे बिना या स्वीकार किये बिना भाषा फलवती नहीं होती।

युवक ने भगवान बुद्ध को गालियाँ दी परन्तु बुद्ध ने स्वीकार नहीं की। क्योंकि बुद्ध ने केवल गालियों की भाषा को सुना परन्तु उसके पीछे छिपी बुरी भावना को नहीं स्वीकारा। शब्दशः सुना जाए भावना को स्वीकार न किया जाए तो शब्द-शब्द ही रह जाते है

उसका कोई मूल्य नहीं रहता।

अणुव्रत की जो भाषा है, उसकी भी अपनी भावना है- 1. अहिंसा, 2. धार्मिक सहिष्णुता, 3. करुणा, 4. समानता, 5. मानवीय एकता, 6. प्रामाणिकता, 7. संयम, 8. ममत्व-मुक्ति, 9. कथनी-करनी में समानता।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के शब्दों में ये सभी नैतिकता की दिशाएं है। यह दिशाएं ही व्रतों की भावना है।

व्रतों के सम्यक् अनुपालन के लिए इनके पीछे छिपी भावनाओं को समझना बहुत जरूरी है। जो व्यक्ति अणुव्रतों की भावना को समझ लेता है वह अनैतिक नहीं हो सकता। अनैतिकता का मूल आधार है— स्वार्थ। जो व्यक्ति स्वार्थी होता है वह किसी का भी हनन कर सकता है, किसी को सता सकता है, किसी का शोषण कर सकता है। संक्षेप में कहा जाए तो क्रूर व्यक्ति ही दूसरों के हितों की हत्या कर सकता है। जिस व्यक्ति के हृदय में व्रतों की भावना बस जाती है। वह किसी के प्रति क्रूर नहीं बन सकता किसी का अहित नहीं सोच सकता। असद् आचरण नहीं कर सकता। इसलिए अपेक्षा है व्रतों की भावना को समझकर उन्हें स्वीकार किया जाए।

5.4.3 अणुव्रत का आधार : संयम

अणुव्रत आन्दोलन व्यक्ति के वर्तमान जीवन को स्वस्थ और शुद्ध बनाना चाहता है। उसकी प्रक्रिया के रूप में वह संयम की बात बताता है। संयम वह तत्त्व है जो व्यक्ति के आचरण को उन्नत बनाता है। विचारों को सात्त्विकता प्रदान करता है। अणुव्रत का मुख्य उद्देश्य यही है- जनजीवन में संयम का उच्च मूल्य प्रतिष्ठित हो। अणुव्रत के छोटे-छोटे नियमों को ग्रहण कर आदमी संयममय जीवन जी सकता है। व्यक्ति जब स्वयं से संयम-साधना की शुरुआत करता है तब जीवन-सुधार का उसका यह अभियान व्यक्ति से आगे बढ़ता हुआ समाज और राष्ट्र को स्वस्थ एवं उन्नत बनाता है। अणुव्रत कहता है— विश्व के सामने कितनी भी बड़ी समस्या क्यों न हो, वह संयम की शक्ति से समाहित हो सकती है। जो समस्या जितनी भयंकरता को लिये होती है, उसके पीछे उतना ही असंयम का योग होता है। मूलभूत समस्या असंयम ही है।

कोई नहीं चाहता घर में चोरी हो, लुटेरे प्रविष्ट हों, बच्चों का अपहरण हो। कोई नहीं चाहता स्वयं की कम्पनियों में हड़तालें हो, मजदूर उग्र हो, मनमानी करें। फिर भी ऐसा क्यों होता है? कारण एक ही है—असंयम।

अध्यात्म-दृष्टि से 'संयम' इसका सबसे उपयुक्त समाधान है। अणुव्रत को भी यह स्वीकार्य है। सब व्यक्ति संयमी बन जाए यह लम्बी साधना का विषय है फिर भी कुछ मात्रा तक अनियन्त्रित चेतना को नियन्त्रित किया जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में- एक बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है सीमा। हर बात की सीमा होती है। गांव पूरा होता है, सीमा हो गई। नगर की सीमा पर लिखा हुआ मिलता है— नगरपालिका की सीमा समाप्त। मकान की सीमा होती है। जितनी भी चार दीवारियां हैं, वे सब सीमा के लिए बनी हैं। अगर सीमा नहीं होती तो व्यवस्था नहीं होती। सीमा के साथ हर काम अच्छा होता है। बोलना अच्छा है पर बहुत बोलना अच्छा नहीं है। खाना जरूरी है पर बहुत खाना अच्छा नहीं है। वाणी की सीमा, आहार की सीमा। सबकी सीमा जरूरी है। सीमा से ज्यादा करना अव्यवस्था को आमन्त्रण है, बीमारियों को आमन्त्रण है।

यह सीमा और कुछ नहीं अस्तु संयम ही है। जीवन के प्रत्येक कार्य में संयम आवश्यक होता है। खाने का संयम, पीने का संयम, सोने का संयम, जागने का संयम, बैठने का संयम, वाणी का संयम, आहार का संयम, गति का संयम, प्रवृत्ति का संयम। वस्तुत: संयम ही जीवन है। संयम रहित जीवन कुछ समय के लिए सुखकर हो सकता है परन्तु उसकी निष्पत्ति हमेशा कष्टदायी होती है। इसलिए अणुव्रत ने संयम को ही अपना आधार चुना है और जन-जन को घोष दिया- ''संयम: खुल जीवनम्।'' संयम ही जीवन है।

संयम जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जीवन विकास का मौलिक आधार है। जो व्यक्ति जितना अधिक संयममय जीवन जीता है, उसके विकास का और उत्थान का मार्ग उतना ही अधिक प्रशस्त होता है। इसलिए यहाँ हमें संयम क्या है? इसे समझना होगा। मनोनुशासनम् में आचार्य तुलसी ने संयम को परिभाषित करते हुए लिखा—''**हिंसादिप्रवृत्तेरूपरमणं संयमः**''।

हिंसा आदि अकरणीय कार्यों से विरत होना संयम है। जो संयम करता है उसके कर्म संस्कार क्षीण होते हैं।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार संयम का अर्थ है- उस व्यक्तित्व का विकास जो बाहर से निरपेक्ष होकर अपने आपमें परिपूर्ण, संतुष्ट और परितृप्त है। उस व्यक्तित्व का विनाश जो बाहर से अधिक सम्बद्ध होकर अपने आप में अपूर्ण, असन्तुष्ट और अतृप्त रहता है।

सरल शब्दों में कहा जाए तो संयम का अर्थ है—अपने द्वारा अपने पर किया जाने वाला नियन्त्रण।

मानव भौतिक ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति के लिए बेतहाशा दौड़ता रहता है। वह नहीं जानता कि संयम के अभाव में सभी प्रकार की भौतिक ऋद्धि-सिद्धि समस्या पैदा करने वाली है। आज विज्ञान ने बहुत प्रगति की है। उसने मनुष्य के लिए अनेक उपलब्धियों के

द्वार खोले हैं। उसके द्वारा विभिन्न प्रकार के दु:साध्य रोगों से मुक्ति पाई गई है। इन्द्रियाँ पांच हैं-मुख, नाक, कान, आँख और स्पर्श। यह पांचों नये-नये विषयों की मांग करती है। विज्ञान ने एक हद तक इनकी मांगों की पूर्ति की है। परन्तु प्रश्न है क्या इतने साधन उपलब्ध करवाने के बावजूद मानव मन संतुष्ट हुआ है? नहीं। इस बेलगाम, अनियन्त्रित पूर्ति ने केवल असंयम का पोषण किया है।

भगवान महावीर ने कहा- **'इच्छा हु आगाससमा अणंतया'** इच्छा आकाश के समान अनन्त है। अंग्रेजी में कहावत है—Sky is the limit. तात्पर्य यही है कि इच्छाओं को जितना विस्तार दिया जाता है, वह बढ़ती चली जाती है और बढ़ी हुई इच्छाएं आकांक्षाएं किसी न किसी रूप में समस्या पैदा करती है। इसलिए आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार अब अपेक्षा है कि विज्ञान ऐसे उपक्रमों का निर्माण करें जो व्यक्ति के भीतर संयम की चेतना जागृत कर सके। जब तक संयम की चेतना का जागरण नहीं होता तब तक इन्द्रियां बाहरी पदार्थों में उलझती रहती हैं और समस्या पैदा करती हैं। अनैतिकता को पल्लवित करती हैं। समाज में अनैतिकता का वातावरण निर्मित्त होता है। समाज में नैतिक आचरणों को प्रोत्साहन मिले इसी दृष्टि से उठाया गया एक कदम है—अणुव्रत। इसीलिए इसका मूल आधार है—संयम।

5.5 वर्तमान समाज एवं प्रतिरोधात्मक शक्ति

5.5.1 वर्तमान समाज : स्वरूप

भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न ढंग से समाज को परिभाषित किया। परिभाषाएं भिन्न होते हुए भी सार एक ही है कि समाज उस संगठन का नाम है- जहाँ परस्परता, सामंजस्य, सौहार्द एवं सेवा का वातावरण रहता है। हम प्रसिद्ध समाजशास्त्री मेकाइवर के कथन का ही यहाँ उल्लेख करें। मेकाइवर ने कहा- समाज सम्बन्धों का जाल है-Society is the web oh social relation-ship. पर वह सम्बन्ध आग और धुएँ का, दीवार और चित्र, अथवा मेज और पुस्तक जैसा नहीं है तथा न ही सामान्य गुणों, सामान्य परिस्थितियों अथवा व्यवहार के सामान्य तरीकों के कारण होता है किन्तु यह मानसिक जागरूकता अथवा अन्तर्क्रियाओं से सम्बन्धित है। यह कहा जा सकता है कि इसके अस्तित्व का बड़ा कारण आत्मीयता की भावना (heeling oh belonging together) का विद्यमान होना है, जिससे स्नेहपूर्ण, परम्परात्मक अथवा संवेगात्मक आधारों पर एक-दूसरे को बहुत निकट माना जाता है।

वस्तुत: समाज निर्माण के पीछे प्रमुख उद्देश्य भी परस्परता, एक-दूसरे के सहयोग की भावना, आवश्यकताओं की पूर्ति ही रही है परन्तु जैसा कि यह भी एक यथार्थ है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो पूर्णतया स्थायी हो। प्रत्येक वस्तु बदलती है, प्रत्येक प्राणी वृद्धि करता है। प्रत्येक जीवन आगे की ओर बढ़ता है। ठीक वैसे ही समाज जो व्यक्तियों द्वारा निर्मित है, उसमें भी परिवर्तन आते रहते हैं। यही कारण है कि आज हमारे समाज का स्वरूप विकृत होता जा रहा है। स्वार्थ के बढ़ते दायरों के कारण आत्मीयता की भावना प्राय: लुप्त सी हो रही है। एक ही समाज के दो सदस्यों के बीच परस्परता, सहयोग की भावना के बजाय अहं टकराने के कारण दूरियाँ बढ़ती जा रही है। समाज में रहने वाले कुछ अल्पबुद्धि एवं उच्छृंखल लोग अपनी जायज या नाजायज मांग पूरी करवाने के लिए हिंसात्मक, तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग लेते है। अर्थप्रधान चेतना के कारण प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, घृणा और स्पर्धा जैसे नकारात्मक भावों को पल्लवित होने का अच्छा अवसर मिल रहा है। स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे भड़क रहे हैं। राम और रहीम के नाम पर स्वयं के अहं टकरा रहे हैं।

गर्भ जल परीक्षण जिसका मुख्य उद्देश्य था- क्रोमोसोम सम्बन्धी खराबी की जानकारी करना जिससे गर्भस्थ शिशु को विकलांगता या आनुवांशिक बीमारी से छुटकारा दिलाया जा सके किन्तु आज किसी भी प्रकार की गड़बड़ी न होने पर भी केवल लड़की होने के कारण भ्रूण की हत्या कर दी जाती है। भ्रूणहत्या जो एक अमानवीय कृत्य है तेजी से बढ़ता जा रहा है।

निराशा, चिन्ता और कुण्ठा से पीड़ित युवक वर्ग आत्महत्या के आंकड़ों को बढ़ा रहे हैं। शिक्षित एवं सभ्य कहलाने वाले हमारे समाज में आज तक दहेज के लालच में कितनी कन्याओं को मौत के घाट उतारा गया है, अनुमान लगाना मुश्किल है।

सरल शब्दों में कहा जाए तो आज समाज भ्रूणहत्या, आत्महत्या, दंगाफसाद, प्रतिस्पर्धा जैसी अनेक घातक बीमारियों से आक्रान्त हैं। ये बीमारियां मानव समाज को भीतर ही भीतर खोखला बना रही है। समाज शास्त्री मेकाइवर ने जिस ''आत्मीयता की भावना'' को समाज कहा वह प्राय: विलुप्त होती जा रही है। ऐसे विकट समय में समाज को ऐसी प्रतिरोधात्मक शक्ति की अपेक्षा है जो इन जहरीली बीमारियों से लड़ सके।

5.5.2 प्रतिरोधात्मक शक्ति : अर्थ

खरबों कोशिकाओं से निर्मित हमारा शरीर जब रोगों से, असाध्य बीमारियों से पीड़ित होता है, तब अपनी सुरक्षा हेतु अथवा उन

बीमारियों का प्रतिकार करने हेतु एक तन्त्र का निर्माण करता है, जो रोग प्रतिरोधी तंत्र Immune System कहलाता है। ठीक इसी प्रकार समाज में भी जब-जब बुराइयाँ अपनी जड़े फैलाना शुरू करती है तब इन्हें समाप्त करने के लिए अथवा इनका प्रतिकार करने के लिए एक शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसे प्रतिरोधात्मक शक्ति कहते हैं।

प्रतिरोध शब्द का अर्थ है— निरोध करना, प्रतिकार करना। शक्ति शब्द का सीधा सा अर्थ है— सामर्थ्य, किसी कार्य को करने की योग्यता। सम्मिलित रूप से प्रतिरोधात्मक शक्ति का अर्थ है- वह क्षमता (योग्यता) जो किसी कार्य का निरोध कर सके। जैसे हिंसा के लिए अहिंसा, क्रोध के लिए क्षमा, अहंकार के लिए विनम्रता, संग्रह वृत्ति के लिए अपरिग्रह की चेतना प्रतिरोधात्मक शक्तियाँ हैं।

5.5.3 अणुव्रत एक प्रतिरोधात्मक शक्ति

जैसा कि हमने जाना, प्रतिरोधात्मक शक्ति का अर्थ है—किसी भी बुरे कार्य से लड़ने की क्षमता। इस अर्थ में अणुव्रत एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है। चूंकि इसमें समाज में पनपने वाली बुराइयों को, अवांछनीय कार्य को रोकने की क्षमता है। वस्तुत: प्रतिरोधात्मक शक्ति के आधार पर समाज को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. विकसित प्रतिरोधी—वह समाज जिसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति का उचित मात्रा में विकास होता है। इस समाज के सदस्य अच्छा, आवश्यक एवं उपयोगी कार्य ही करते हैं।

2. अल्प प्रतिरोधी—वह समाज जिसमें निरोध शक्ति का विकास औचित्य से अल्प होता है। उस समाज के सदस्य आवश्यक, उपयोगी और अच्छा कार्य करने के साथ-साथ अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरा कार्य भी कर लेते हैं।

3. शून्य प्रतिरोधी—वह समाज जिसमें निरोध-शक्ति होती ही नहीं, अर्थात् जिस समाज के सदस्यों में बुराइयों की प्रतिरोध करने की क्षमता नहीं होती। इस समाज के सदस्य अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरे कार्यों में ही रस लेते हैं।

अस्तु दूसरे और तीसरे प्रकार वाले समाज में बलात्कार, दुराचार, कुकृत्य, भ्रष्टाचार, बेइमानियाँ, अनैतिकता को पूरी तरह फैलने का मौका मिलता है। ऐसे समाज के सदस्यों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

मनुष्य के जीवन में प्रतिरोधात्मक शक्ति का बहुत महत्त्व है। कोई व्यक्ति झूठ बोलता है, चोरी करता है, अनुशासनहीन बनता है, सीमा का अतिक्रमण कर संग्रह करता है, कानून या मर्यादाओं का उल्लंघन करता है। क्यों? इन तथ्यों की खोज की जाए तो पता लगेगा कि यह सब परिस्थितियों की विवशता से नहीं अपितु स्वयं की प्रतिरोधात्मक शक्ति कम होने के कारण होती है। कठिनाइयाँ, प्रतिकूल परिस्थितियाँ कोई नई चीज नहीं है। यह हर व्यक्ति व समाज के सामने आती है। महान कहलाने वाले महापुरुषों पर भी आती है। बस अन्तर इतना ही है कि प्रतिरोधात्मक शक्ति वाले व्यक्ति बिना घबराए बेधड़क उन परिस्थितियों का सामना करते हैं। उससे पराजित नहीं होते। उन परिस्थितियों पर अपनी शक्ति के बल पर काबू पा लेते हैं। वहीं अल्प या प्रतिरोधात्मक शक्ति शून्य व्यक्ति या समाज बुराइयों से पीड़ित हो जाते हैं।

अणुव्रत एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है जिसका व्यावहारिक प्रयोग कर समाज का हर सदस्य समाज में पनपने वाली बुराइयों का प्रतिकार कर सकता है। अणुव्रत के छोटे-छोटे सभी नियम समाज में अपनी जड़ें फैलाने वाली बुराइयों का सटीक समाधान है।

बोध प्रश्न-2

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

(1) अणुव्रत की भाषा और भावना से आप क्या समझते हैं? समझाइये।

(2) वर्तमान समाज का यथार्थ चित्रण करते हुए अणुव्रत की उपयोगिता पर प्रकाश डालें।

(3) अणुव्रत का आधार संयम ही क्यों? स्पष्ट कीजिये।

(4) प्रतिरोधात्मक शक्ति किसे कहते हैं? अणुव्रत एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है, सिद्ध करें।

इकाई-5 (ख) अणुव्रत आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 अणुव्रत आन्दोलन : स्वरूप
 5.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 5.2.2 सूत्रपात एवं विकास
 5.2.3 वर्तमान स्वरूप
5.3 अणुव्रत आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में
 5.3.1 आन्दोलन का महत्त्व
 5.3.2 आन्दोलन की प्रासंगिकता
 5.3.3 अणुव्रत : कार्यक्षेत्र
5.4 स्वस्थ समाज संरचना का आधार : अणुव्रत
 5.4.1 आचार्य तुलसी की दृष्टि में सामाजिक समस्याएँ
 5.4.2 स्वस्थ समाज : अणुव्रत सूत्र

5.0 उद्देश्य

'अणुव्रत आन्दोलन' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप —

- अणुव्रत आन्दोलन की शुरुआत कब? कहाँ? कैसे हुई जान सकेंगे।
- अणुव्रत आन्दोलन के वर्तमान स्वरूप को समझ सकेंगे।
- वर्तमान में अणुव्रत की प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।
- स्वस्थ समाज के निर्माण में अणुव्रत की भूमिका से परिचित हो सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

भगवान महावीर ने चारित्र धर्म के दो प्रकारों का प्रतिपादन किया— साधु धर्म एवं गृहस्थ धर्म। साधु समाज के लिए महाव्रत का तथा गृहस्थ के लिए अणुव्रतों का निरूपण किया। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अणुव्रत श्रावक के बारह व्रत के नाम से जाने जाते थे। धीरे-धीरे समय परिवर्तित हुआ, युग बदला। युग के अनुरूप अणुव्रतों में परिवर्तन की अपेक्षा महसूस हुई। युग की माँग को देखते हुए आचार्य तुलसी ने प्राचीन अणुव्रतों का सरलीकरण कर ग्यारह नियमों की एक नियमावली प्रस्तुत की। गृहस्थ जीवन जीने वालों का चारित्रिक विकास हो, इस उद्देश्य से निर्धारित की गई यह आचार-संहिता ही अणुव्रत आन्दोलन के रूप में जानी जाने लगी। इस इकाई में हम अणुव्रत आन्दोलन को गहराई से समझने का प्रयास करेंगे तथा अणुव्रत किन-किन क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है, आज के तकनीकी युग में इसकी क्या प्रासंगिकता है, व्याख्यायित कर पाएँगे।

5.2 अणुव्रत आन्दोलन

5.2.1 ऐतिहासिक : पृष्ठभूमि

15 अगस्त 1947 का स्वर्ण प्रभात, जब शहीदों का बलिदान सफल हुआ और हमारा देश भारत अंग्रेजों की दासता से स्वतन्त्र हुआ। सैकड़ों वर्षों की गुलामी का अंत और महात्मा गांधी के स्वप्नों का स्वराज उदित हुआ। चारों ओर उल्लास और खुशियों का वातावरण छा गया। लेकिन स्वतन्त्रता की पहली किरण के साथ ही लालिमायुक्त जो समाचार आए वे अत्यंत चिन्ताजनक थे। बीसवीं शताब्दी की भयावह त्रासदी, चारों ओर हिन्दू-मुस्लिम दंगों के साथ मारकाट, कहीं अल्ला हो अकबर अल्ला के नारे तो कहीं हर-हर महादेव की ध्वनि। वर्षों से परस्पर एक साथ रह रहे भाई-बहिन एक दूसरे के जानी दुश्मन बन गये। मंदिर-मस्जिद की दीवारें तोड़ी जा रही थीं। अपने-अपने जातीय जुलूस एवं हजूम के साथ मुसलमान-हिन्दू और हिन्दू-मुसलमानों को मारने-काटने और घर जलाने में लगे हुए थे। क्या भारत, क्या पाकिस्तान सर्वत्र हिन्दू और मुस्लिम प्रांतों में साम्प्रदायिकता की यह आग बढ़ती ही जा रही थी। लाखों-

लाखों हिन्दू-मुस्लिम अपने घर-बार और सम्पत्ति सब कुछ छोड़कर शरणार्थी के रूप में आ-जा रहे थे। रेलों में रक्त से सनी लाशें ही लाशें थीं। चारों ओर भयंकर और बीभत्स दृश्य था। ऐसे समय में महात्मा गांधी ने नोआखली की ओर शांति यात्रा के साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता के सद्भावनापूर्ण वातावरण के निर्माण में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। ताण्डवपूर्ण स्थिति में स्वतन्त्रता के छह माह भी नहीं बीते कि 30 जनवरी 1948 को साम्प्रदायिकता की बलिवेदी पर महात्मा गांधी का बलिदान हुआ। राजधानी दिल्ली की एक प्रार्थना सभा में नाथूराम गोड्से ने तीन गोलियों से अहिंसा के अग्रदूत गांधी का अंत कर दिया। स्वतन्त्र भारत एक भयंकर अग्नि परीक्षा से गुजर रहा था। सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था। उन्हीं विषम परिस्थितियों में अपनी मनमानी और असामाजिक प्रवृत्तियों के साथ धीरे-धीरे भ्रष्टाचार एवं अनाचार हावी हो उठा और वह द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता ही गया।

राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की आवाज को लेकर विभिन्न संस्थाएं संगठित हुईं। अधिकारों की यह लालसा इतनी तीव्र और प्रचंड हो उठी कि इससे सेवा और त्याग की आधारशिला ही चरमरा उठी। कर्त्तव्य का स्थान अधिकारों ने ले लिया। निर्माण का लक्ष्य दूर होता गया और स्वतन्त्र राष्ट्र में अनेक व्याधियों ने घर कर लिया। इसका परिणाम हुआ—

- व्यापार-व्यवसाय में ईमानदारी के स्थान पर बेईमानी और चोर बाजार की वृत्तियाँ बढ़ी।
- सरकारी और गैर-सरकारी विभागों-कार्यालयों में रिश्वत का आतंक बढ़ा।
- शोषण, अनाचार और भ्रष्टाचार ने उग्र रूप लिया।
- राजनैतिक सत्ता प्राप्ति के साथ यशलोलुपताा व पदलोलुपता की असीमित आकांक्षाओं ने जन्म लिया।
- भौतिक वासना और उससे उत्पन्न व्यभिचार व दुराचार बढ़ा।
- सदाचार, मैत्री एवं प्रेम के स्थान पर नफरत, द्वेष और स्वार्थ की वृत्तियों ने अपना अधिकार जमाया।
- व्यक्तिगत बुराइयों का बोलाबाला हो उठा।
- साम्प्रदायिकता, हिंसा और अनैतिकता का चारों ओर प्रसार हुआ।
- आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओं का पतन हुआ।

हिंसा, साम्प्रदायिक तनाव, असामाजिक वातावरण और अनैतिकता के इस बढ़ते हुए दौर पर अपनी पैनी दृष्टि लगाये हुए थे— जैन परम्परा के तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य तुलसी। सन् 1948, आचार्य तुलसी उस समय राजस्थान के चूरू जिले के छापर ग्राम में वर्षावास कर रहे थे। 1948 का अक्टूबर माह, कुछ प्रगतिशील युवक चर्चा कर रहे थे, युवकों का निराशा भरा कथन था कि— "आज के युग में कोई भी व्यक्ति प्रामाणिकता के सहारे नहीं जी सकता, धार्मिक उपदेश अपने स्थान पर सही हैं पर आज उनका जीवन में कोई स्थान नहीं रह गया है।" युवकों की इस विचारधारा ने आचार्य तुलसी की अन्तरात्मा को छूआ, चिन्तन आया— व्यक्ति से ही समष्टि का निर्माण होता है। बिना नागरिक विकास के कोई भी सामाजिक व्यवस्था टिक नहीं सकती। आज चारों ओर फैली हुई अधार्मिकता, शोषण, हिंसा, दुराचार, अनैतिकता और अशांति को मिटाने के लिए एक सबल क्रान्ति की जरूरत है।

आचार्य तुलसी ने अपने कर्त्तव्य का बोध किया, सोचा- यह चुप बैठने का समय नहीं है। उनका हृदय जाग उठा और सदियों से प्रताड़ित जड़वादी समाज को बदलने के संकल्प के साथ नई दिशा की ओर कदम बढ़ाये। धर्म मात्र परम्परा निभाने और परिपाटियों को चलाने के लिए नहीं है, वरन् धर्म एक जीवंत शक्ति है, इसका ज्ञान कराना होगा, तब ही हम कुछ कर सकेंगे। महात्मा गांधी के बलिदान से धर्म, सम्प्रदाय एवं धर्माचार्यों पर यह नैतिक जिम्मेदारी आई है। केवल सम्प्रदाय मात्र को चलाना ही धर्म नहीं है वरन् धार्मिक आचार-विचार के वास्तविक मूल्यों को जन-जन में संचार करने के साथ मानवीय आदर्शों को मूर्त रूप देना ही धर्म का मूल उद्देश्य है। मात्र राजनेताओं के आधार पर सुराज्य की कामना करें, यह मृग मरीचिका मात्र है। हमें नई दिशा लेनी और देनी होगी, तब ही हम जन-जीवन में प्रवेश के अधिकारी होंगे। किसी को कुछ कहूं उसके पूर्व मुझे अपनी कमर कसनी होगी। हमारे श्रावक प्रतिदिन धर्म स्थान में आते हैं, साधुओं की उपासना करते हैं, धर्मचर्चा करते हैं। पर धार्मिक व्यक्ति के जीवन में जितना परिवर्तन होना चाहिए वह दिखाई नहीं दे रहा है। एक धार्मिक को जैसा होना चाहिए, वह वैसा नहीं है। धर्मोपासना की पृष्ठभूमि में जो नीति-निष्ठा अपेक्षित है, उसके अभाव में धार्मिकता फलवती नहीं हो सकती। नैतिकता की उधेड़बुन में चिन्तन का क्रम आगे बढ़ा और इस सोच के साथ ही 'अणुव्रत विचार क्रान्ति' का अभ्युदय हुआ।

छापर में उठे नैतिक मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा के विचारों को मन में संजोते हुए आचार्य तुलसी ने राजलदेसर (चूरू) की ओर प्रस्थान किया, जनवरी 1949 में राजलदेसर पहुंचे। विचार-विकास का क्रम चला। धार्मिक चेतना को नया मोड़ देने की अपेक्षा प्रतीत हुई और लम्बी विचार चर्चा के बाद फरवरी 1949 में राजलदेसर में नयी योजना के प्रस्तुतीकरण की घोषणा कर दी गई।

राजलदेसर से आचार्य तुलसी चले और मध्यवर्ती पड़ावों को पार कर सरदारशहर पहुंचे। तब तक नयी योजना के अन्तर्गत

एक आचार संहिता तैयार हो चुकी थी, पर नामकरण नहीं हुआ था। चिन्तन चला, गोष्ठियाँ हुई, सुझाव आए- आदर्श श्रावक संघ, नैतिक मंच, नैतिक आंदोलन, अणुव्रत संघ। विमर्श के निर्णायक बिन्दु थे- नाम संक्षिप्त हो, अर्थपूर्ण हो, व्यापक हो, असाम्प्रदायिक हो तथा प्रभावी हो। मुनी श्री नथमल (वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ) के सुझाव पर अणुव्रती संघ नाम निर्णीत किया गया। इस पर श्री देवेन्द्रकुमार कर्णावट सहमत नहीं हुए। वे बोले— यह भी कोई नाम है। व्यवहार शुद्धि आंदोलन या चरित्र निर्माण आंदोलन जैसा नाम होना चाहिए। कुछ लोगों को इस नाम में साम्प्रदायिकता दिखाई दी तो कुछ का अभिमत था कि यह नाम व्यापक नहीं है। देवेन्द्रजी को समझाने का प्रयास किया गया पर वे नहीं माने। देवेन्द्रजी, मूलचंद सेठिया एवं अन्यजनों की गोष्ठी आचार्य तुलसी के साथ हुई। आचार्य तुलसी ने कहा—'अणुव्रत' नाम समझ में नहीं आ रहा है। कोई बात नहीं। नाम दूसरा भी हो सकता है। किन्तु मैं एक बात कहना चाहूंगा कि कभी दूसरों की समझ पर भी विश्वास करना सीखना चाहिए। 'अणुव्रत' शब्द भले ही व्यापक न हो पर व्रत शब्द की व्यापकता असंदिग्ध है। अणुव्रत जैन परम्परा का शब्द है, किन्तु इसकी आचार संहिता के पीछे न तो कोई साम्प्रदायिकता की भावना है और न कोई अभिनिवेश। इसलिए अणुव्रत शब्द को हमारी स्वीकृति मिल जानी चाहिए। भारतीय मानस व्रत से बहुत प्रभावित है। मैं चाहता हूँ कि व्रत दीक्षा के माध्यम से उसे नया मोड़ दिया जाए।'' इस तरह संदेहों की निवृत्ति के बाद अणुव्रत का नाम स्थिर हुआ। जैसे-जैसे जनता में अणुव्रत की चर्चा बढ़ी, नये-नये संदेह उभरे। प्रारंभकाल में समय-समय पर उठे संदेहों का स्पष्टीकरण भी आचार्य तुलसी द्वारा किया गया।

फाल्गुन शुक्ला द्वितीया वि. सं. 2005 तदनुसार 1 मार्च 1949 को सरदारशहर (चूरू, राजस्थान) में नई संभावनाओं के साथ अणुव्रत आंदोलन का उद्घाटन हुआ। गधैयाजी के नोहरे में प्रवचन पंडाल में अणुव्रत का उद्घाटन आचार्य तुलसी ने दस हजार से अधिक व्यक्तियों की उपस्थिति के बीच किया। उद्घाटन समारोह का संयोजन श्री देवेन्द्र कुमार कर्णावट ने किया। मंत्री मुनि श्री मगनलालजी के शुभाशीष एवं मंगल प्रार्थना के बाद मुनि श्री नथमल एवं मुनि श्री नगराज ने अणुव्रत की आचार संहिता पर प्रकाश डालते हुए प्राथमिक वक्तव्य दिए। अणुव्रत प्रवर्तक आचार्य तुलसी ने नैतिक क्रान्ति से प्रेरित अपने उद्घाटन भाषण में कहा-''धार्मिक मूल्यों में मेरी गहरी आस्था है। मैं उस आस्था को क्रिया-काण्ड या उपासना पद्धति में ही सीमित करना नहीं चाहता। मात्र उपासना के धरातल पर टिका हुआ धर्म जीवन को रूपान्तरण की स्थिति में नहीं ला सकता। जहाँ रूपान्तरण का अवकाश नहीं है, वहाँ जड़ता अपनी जड़ें जमा लेती हैं। धर्म का क्रांत और तेजस्वी स्वरूप धार्मिक की चर्या में प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसके लिए नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा अपेक्षित है। नैतिकता धर्म की पृष्ठभूमि भी है और निष्पत्ति भी। नैतिकता का वियोग धर्म की मूर्च्छावस्था का प्रतीक है। इस मूर्च्छा को तोड़कर धर्म के माध्यम से वैयक्तिक और सामाजिक लाभ की अनुभूति करना वर्तमान की सबसे बड़ी अपेक्षा है। जाति, भाषा, प्रांत, सम्प्रदाय आदि धर्म की व्यापकता में बाधा है। जब तक यह बाधा नहीं टूटती है, धर्म सार्वभौमिक, सार्वजनिक हितों का संवाहक नहीं हो सकता। जाति, भाषा आदि की भिन्नता धार्मिक मूल्यों के बीच में दीवार खड़ी न करे तो धर्म प्रसार के साधन विस्तृत हो सकते हैं। धनी-निर्धन, ऊँच-नीच आदि भावनाएं धर्म के बिन्दु पर टिक नहीं सकतीं। किसी भी सिद्धान्त को अपनी सहमति देने से पहले मानव धर्म को सहमति देना अपेक्षित है। समाज के लिए भारभूत अर्थहीन रूढ़ परम्पराओं को तोड़े बिना धर्म अपने सामाजिक लाभ को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। सादा और सात्त्विक, प्रामाणिक और निश्चिन्त तथा मानसिक द्वन्द्वों से निर्मुक्त स्वस्थ जीवन जीने के लिए एक नयी किन्तु प्राचीन पद्धति का प्रादुर्भाव जन-जीवन में नयी स्फुरणाओं और संभावनाओं को जन्म देगा, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।''

आचार्य तुलसी ने अपने प्रभावी अभिभाषण में राष्ट्रीय, सामाजिक एवं युगीन परिस्थितियों का विवेचन करते हुए नैतिक शक्ति के नव संचार पर बल दिया और उसमें अणुव्रत आंदोलन की भूमिका का महत्त्व बताते हुए जन-जन से अपने कर्त्तव्य बोध का आह्वान किया। एक आह्वान के साथ ही 73 व्यक्तियों ने अपने नाम दिए।

नामों की सूची जितनी लम्बी हुई, कार्यकर्त्ताओं का उत्साह उसी क्रम में बढ़ा। जनता द्वारा अणुव्रत आचार संहिता का अभिनदंन नैतिकता का अभिनंदन था। नैतिकता की दिशा में यह नये युग का प्रारंभ था। उद्घाटन समारोह में घोषित अणुव्रत आचार संहिता के अनुसार अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि के अनुसार सबकी व्याख्या करते हुए छोटे-छोटे 75 नियम थे। इनमें से कुछ नियम कठोर थे (चोर बाजारी नहीं करना, रिश्वत न लेना न देना, मिलावट नहीं करना, झूठा तौल-माप नहीं करना, टैक्स की चोरी नहीं करना, भ्रष्टाचार, अनाचार नहीं करना आदि।) जिनका पालन आसान नहीं था। इसलिए लोग अपने को पूरा तोलकर अणुव्रत की प्रतिज्ञाएँ ग्रहण करते थे। विशेष परिस्थितियों में एक-दो की छूट थी। वह भी अणुव्रत अनुशास्ता की दृष्टि में आना आवश्यक था। व्रतों की इतनी कठोर अनुशासना के बाद भी उद्घाटन समारोह में 73 व्यक्तियों का एक समूह जुट जाना एक चामत्कारिक उपलब्धि थी। अणुव्रत प्रवर्तक तुलसी के आह्वान पर इन 73 भाई-बहिनों ने खड़े होकर व्रत वाचन के साथ सार्वजनिक

रूप से अणुव्रत की प्रतिज्ञाएँ ग्रहण कीं। यह नैतिक क्रान्ति का प्रारंभ था। जिसका लोकव्यापी स्वागत हुआ। सरदारशहर अणुव्रत की संस्थापना का आधारभूत केन्द्र बना और यहीं से ''संयम: खलु जीवनम्'' संयम ही जीवन है का घोष गूँजा, जो शनै: शनै: जनघोष बन गया और हिमालय से कन्याकुमारी तक चारों ओर फैल उठा।

5.2.2 अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात एवं विकास

आचार्य तुलसी ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस (15 अगस्त, 1947) पर 'असली आजादी अपनाओ' का शंखनाद किया। असली आजादी का अर्थ है– नैतिक विकास। इसका प्रयोगिक रूप है–'अणुव्रत आन्दोलन'। 1949, मार्च में आपने 'अणुव्रत आन्दोलन' का प्रवर्तन किया। सरदारशहर का विशाल प्रवचन समवसरण। हजारों-हजारों स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति। प्रात:काल की पावन बेला। आशा और निराशा के बीच तैरती हुई तरंगों के बीच आपने कहा–'अणुव्रत की आचार-संहिता के लिए कम से कम पच्चीस व्यक्ति मुझे मिलें, यह मेरी आशंसा है। मुझे विश्वास है, इससे नैतिकता का नया आयाम खुलेगा।' आह्वान कर जैसे ही विराम लिया, वैसे ही अणुव्रती बनने की स्पर्धा शुरू हो गई। प्रथम आह्वान में इकहत्तर व्यक्ति अणुव्रती बने। अणुव्रत के प्रति आशावादी लोग प्रसन्न हो रहे थे, निराशावादी व्यक्ति इस संख्या को विस्मय के साथ सुन रहे थे। उनकी कल्पना थी कि पांच-दस व्यक्ति भी अणुव्रत के लिए समर्पित नहीं होंगे। अणुव्रतियों की प्रथम बार में होने वाली संख्या ने उनकी कल्पना को बदल दिया इसलिए वे आश्चर्य-चकित थे।

प्रथम बार अणुव्रती बनने वालों के नाम आचार्यश्री तुलसी ने स्वयं अपने हाथों से लिखे। उस समय यह कल्पना नहीं थी कि 'अणुव्रत आन्दोलन' इतना व्यापक बनेगा। उसका इतना स्वागत होगा किन्तु इसकी व्यापकता के पीछे संकल्प शक्ति और श्रम का चमत्कार है। सैकड़ों साधु-साध्वियों ने पांव-पांव चलकर, अणुव्रत की भावना को गांव-गांव तक पहुंचाया। हजारों कार्यकर्त्ताओं का श्रम जुड़ा। कुछ ही वर्षों में पूरे देश में अणुव्रत की लहर चल पड़ी। आचार्यश्री की पदयात्राओं ने उसे और अधिक शक्तिशाली बना दिया।

पहला अधिवेशन

'अणुव्रत आन्दोलन' एक अभाव की पूर्ति था इसलिए थोड़े समय में ही वह बहुत प्रख्यात हो गया। जनता ने एक प्रकाश-रश्मि के रूप में उसका स्वागत किया। छोटे-छोटे गांवों में सैकड़ों की संख्या में लोग एकत्रित होते, आन्दोलन के व्रतों को सुनते और उन्हें अपनाते।

आचार्यश्री तुलसी का सन् 1949 में जयपुर में चातुर्मास प्रवास था। वहां अणुव्रत को और अधिक प्रसार मिला। उसका पहला वार्षिक अधिवेशन सन् 1950 में दिल्ली में हुआ। आन्दोलन को सार्वजनिक रूप वहीं मिला। पर नये-नये आन्दोलन के प्रति जो आकर्षण था, वह स्वयं अपनी आवश्यकता एवं अपेक्षा का साक्षी था।

उस समय तक 'अणुव्रत आन्दोलन' के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी का परिचय एक रूढ़िवादी धर्माचार्य और सम्प्रदाय-नेता के रूप में था। उनके द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन असाम्प्रदायिक हो सकता है, यह कल्पना भी लोग नहीं कर पा रहे थे। आन्दोलन रचनात्मक नहीं है, केवल नकारात्मक है। अपने सम्प्रदाय को बढ़ाने के लिए यह एक जाल रचा गया है। इस कोटि की अनेक प्रतिक्रियाएँ चल रही थीं। फिर भी पहले अधिवेशन में आन्दोलन का जो रूप बना, वह कल्पनातीत सुखद था। उसी के आधार पर यह विश्वास बना कि आन्दोलन को स्वयं चलना है, जनता को अभी इसकी अपेक्षा है।

'दिल्ली नगर निगम' के प्रांगण में पहला अधिवेशन हुआ। सैकड़ों व्यक्तियों ने समवेत स्वर में अणुव्रत की प्रतिज्ञाओं को दोहराया। तब लग रहा था कि युग करवट ले रहा है। समाचार-पत्रों ने उसे बहुत महत्त्व दिया। विदेशी समाचार-पत्रों ने भी आन्दोलन का काफी स्वागत किया। जापान में भी अणुव्रतों की चर्चा हुई। उन सब स्थानों की प्रतिक्रिया संक्षेप में यही थी कि आन्दोलन के नियम भारतीय जीवन को दृष्टि में रखकर बनाए गये हैं।

'संघ' से 'आन्दोलन'

'अणुव्रत आंदोलन' प्रारम्भ में 'अणुव्रत संघ' के नाम से सामने आया। फिर जैसे-जैसे वह जनता तक पहुंचा, जैसे-जैसे अनुभव व्यापक हुआ, वैसे-वैसे उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहा। बम्बई के चातुर्मास प्रवास में उसकी रूपरेखा में परिवर्तन हुआ। तब तक आन्दोलन पांच वर्ष की अवधि पार कर चुका था। हजारों व्यक्ति अणुव्रती बन चुके थे। लाखों व्यक्ति उसके समर्थक हो गये थे। करोड़ों तक उसकी भावना पहुंच चुकी थी। सचमुच जनमानस में एक आंदोलन हो रहा था। आचार्यश्री के पास चिन्तन चला कि अब 'अणुव्रती संघ' का नाम 'अणुव्रत आन्दोलन' कर दिया जाए। 'संघ' शब्द में एक सीमा की भावना है। 'आन्दोलन' अधिक मुक्त भावना का वाचक है। यह विचार सबको ठीक लगा और 'संघ' का नाम 'अणुव्रत आन्दोलन' हो गया।

'अणुव्रत आन्दोलन' के उद्देश्य रखे गये— मानवीय विभेदक तत्त्वों को महत्त्वहीन मानकर मानव मात्र को नैतिकता की ओर

आकृष्ट करना; गृहस्थ जीवन के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना और विश्वमैत्री व शांति का प्रचार करना। अणुव्रती होने के लिए योग्यता व अयोग्यता को अप्रासंगिक समझा गया था। प्रत्येक मानव को अणुव्रती बनने का अधिकार दिया गया। चाहे वह भारतीय हो या विदेशी; चाहे वह नैतिक हो या अनैतिक; चाहे वह धार्मिक हो अथवा अधार्मिक; चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष और वह किसी भी जाति अथवा वर्ण से संबंधित हो। मांसाहारी व्यक्ति को भी अणुव्रती बनने का अधिकार दिया गया, ताकि वह दूसरे क्षेत्रों में अपनी नैतिकता का विकास कर सके।

विकास यात्रा के चार चरण

अणुव्रत की विकास यात्रा में एक नया उभार आया, जब अणुव्रत की साधना में 'प्रेक्षाध्यान' की साधना का क्रम जुड़ा। 1975 में 'प्रेक्षाध्यान' का उद्भव हुआ। उसकी साधना का क्रम चला। साधना से लोगों में स्वतः आध्यात्मिकता के अंकुर फूटने लगे। नैतिकता, अणुव्रत की भावना जीवन में उतरने लगी। उसी क्रम में ''अणुव्रत-प्रेक्षाध्यान शिविर'' आयोजित हुए। इससे अणुव्रती के जीवन में प्रेक्षाध्यान साधना का महत्त्वपूर्ण तत्त्व जुड़ा। इसे अणुव्रत विकास यात्रा का द्वितीय चरण कह सकते हैं।

अनेक दशकों से आन्दोलन शिक्षा जगत में अणुव्रतों के माध्यम से नैतिकता के विकास के लिए प्रयत्न कर रहा था। इसके अन्तर्गत ''अणुव्रत परीक्षाओं'' का भी आयोजन हो रहा था। इस क्रम में प्रेक्षाध्यान शिक्षा जगत से जुड़ा। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान दोनों साथ जुड़ने से इस कार्य में तीव्रता आई। अणुव्रत संकल्प शक्ति का प्रतीक बना। वहीं प्रेक्षाध्यान उसकी अभ्यास-प्रक्रिया के रूप में उभरा। इन दोनों के योग से मूल्यपरक शिक्षा, नैतिक शिक्षा, आध्यात्मिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा एवं योग शिक्षा का एक नया रूप सामने आया। इसका 28 दिसम्बर, 1978 में ''जीवन विज्ञान'' नामकरण किया गया। इससे कोमलमति बच्चों में योग एवं ध्यान के प्रयोग से संस्कार निर्माण में अभूतपूर्व सफलता मिली। बड़े बच्चों में मानसिक एकाग्रता, कार्यक्षमता एवं नैतिक आस्था को बल मिला है। वस्तुतः यह 'जीवन विज्ञान' अणुव्रत विकास यात्रा का तृतीय चरण है।

अणुव्रत की आचार-संहिता का पहला ही नियम अहिंसा के विकास के लिए है। हिंसा, आतंक आदि विश्वव्यापी समस्याओं के समाधान के लिए 1981 में ''अहिंसा सार्वभौम'' की कल्पना की गई। उसे साकार रूप देने के लिए मात्र सैद्धान्तिक पक्ष का प्रस्तुतीकरण अपर्याप्त माना गया। इसे पूर्णता प्रदान करने के लिए ''अहिंसा-प्रशिक्षण'' की प्रायोगिक प्रविधि तैयार की गई। अणुव्रत की विकास यात्रा का यह चतुर्थ चरण है।

5.2.3 अणुव्रत आन्दोलन : वर्तमान स्वरूप

अणुव्रत आन्दोलन की प्रकृति प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रही है। इसका विशुद्ध उद्देश्य रहा है- चरित्र विकास। दूसरे शब्दों में कहें तो इसका मूल उद्देश्य था— मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनाना। उसे नैतिक और प्रामाणिक जीवन जीने का प्रशिक्षण देना। आज भी इसी उद्देश्य को लेकर यह आगे बढ़ रहा है और जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, लिंग, रंग आदि भेदभावों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र को आत्म संयम की ओर प्रेरित करता है।

अणुव्रत आन्दोलन की अपनी आचार संहिता है। इस आचार संहिता में ग्यारह नियम हैं। आन्दोलन के प्रारम्भ में नियमों की संख्या तेरह थी जो बढ़कर छियासी हो गई। सन् 1958 में अणुव्रतों की संख्या में फिर परिवर्तन किया गया। इस अवसर पर व्रतों की भाषा का परिष्कार किया गया। अणुव्रतियों की श्रेणियाँ बनाई गई— प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियमों का विधान किया गया। अणुव्रती को अणुव्रतों के साथ उसके शील और चर्या का पालन करना होता है। इस अवसर पर वर्गीय अणुव्रतों का भी विधान किया गया।

सन् 1965-66 के समय उक्त आचार संहिताओं की पुनर्विवेचना कर व्रतों की संख्या सीमित की गई। अक्टूबर सन् 1983 में एक बार फिर अणुव्रतों में सामंजस्य स्थापित किया गया। अणुव्रत की भाषा और अधिक परिष्कृत की गई। इसमें अणुव्रत के निदेशक तत्त्व, ग्यारह अणुव्रत, अणुव्रत-साधना तथा वर्गीय अणुव्रतों में शिक्षक, विद्यार्थी, श्रमिक कृषक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार सम्बन्धी अणुव्रतों को भी प्रथम बार लिया गया तथा पुराने वर्गीय अणुव्रतों में भी दूसरे नवीन अणुव्रत सम्मिलित किये गये।

वर्तमान में उनका स्वरूप इस प्रकार है—

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व

1. दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदनशीलता।
2. मानवीय एकता।
3. सह-अस्तित्व की भावना।
4. साम्प्रदायिक सद्भाव।
5. अहिंसात्मक प्रतिरोध।
6. व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा।
7. व्यवहार में प्राथमिकता।
8. साधन-शुद्धि की आस्था।
9. अभय, तटस्थता और सत्य-निष्ठा।

अणुव्रत : आचार संहिता

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
   - आत्म-हत्या नहीं करूंगा।
   - भ्रूण-हत्या नहीं करूंगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूंगा।
   - आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।
   - विश्व-शांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूँगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़ फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा।
   - जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूंगा।
   - अस्पृश्य नहीं मानूंगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।
   - साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।
   - अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।
   - छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।
7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।
8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
9. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
10. मादक तथा नशीले पदार्थ- शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।
11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।
    - हरे-भर वृक्ष नहीं काटूंगा।
    - पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

(अणुव्रती के लिए संबंधित वर्गीय अणुव्रतों का पालन भी अनिवार्य है।)

वर्गीय अणुव्रत–

विद्यार्थी अणुव्रत

- मैं परीक्षा में अवैद्य उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
- मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
- मैं अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करूंगा, अश्लील साहित्य नहीं पढूंगा तथा अश्लील चलचित्र नहीं देखूंगा।
- मैं मादक तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
- मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
- मैं दहेज से अनुबंधित एवं प्रदर्शन से युक्त विवाह नहीं करूंगा और न भाग लूंगा।
- मैं बड़े वृक्ष नहीं काटूंगा और प्रदूषण नहीं फैलाऊंगा।

शिक्षक अणुव्रत

- मैं विद्यार्थी के बौद्धिक-विकास के साथ चरित्र-विकास में भी सहयोगी बनूंगा।
- मैं विद्यार्थी को उत्तीर्ण करने में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
- मैं अपने विद्यालय में दलगत राजनीति को प्रश्रय नहीं दूंगा। न इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करूंगा।
- मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
- मैं अणुव्रत-प्रसार में अपना योगदान दूंगा।

अधिकारी/कर्मचारी अणुव्रत

1. मैं रिश्वत नहीं लूंगा।
2. मैं अपने प्राप्त अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं करूंगा।
3. मैं अपने कर्त्तव्य-पालन में जान-बूझकर विलम्ब या अन्याय नहीं करूंगा।
4. मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

श्रमिक अणुव्रत

1. मैं अपने कार्य में प्रामाणिकता रखूंगा।
2. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
3. मैं मद्यपान एवं धूम्रपान नहीं करूंगा तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
4. मैं जूआ नहीं खेलूंगा।

बोध प्रश्न-1

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर विस्तार से लिखिये—

(1) अणुव्रत आन्दोलन की शुरुआत कैसे हुई? विवेचन करें।

(2) अणुव्रत आन्दोलन से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट करें।

(3) अणुव्रत आन्दोलन का वर्तमान स्वरूप कैसा है? समझाइये।

5.3 अणुव्रत आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में

5.3.1 आन्दोलन का महत्त्व

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आर्थिक विकास और व्यवस्था होने पर भी आज का सम्पन्न मनुष्य उतना ही अर्थ-लोलुप है, जितना पहले था। वैज्ञानिक विकास अपने चरम शिखर पर है, फिर भी आज का विज्ञानजीवी मनुष्य उतना ही आक्रामक है, जितना पहले था। शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा होने पर भी आज का शिक्षित मनुष्य उतना ही स्वार्थी है, जितना पहले था। इसका कारण है आर्थिक, वैज्ञानिक और शैक्षणिक विकास ने मनुष्य के व्यवहार को बदला है पर उसी को बदला है, जो उनसे सम्बन्धित है। मनुष्य में ऐसी अनेक मूल प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें ये नहीं बदल सकते। क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, भय, शोक, घृणा, काम-वासना, कलह— ये मनुष्य की शाश्वत मूल प्रवृत्तियाँ हैं। आर्थिक अभाव तथा अज्ञान के कारण जो सामाजिक दोष उत्पन्न होते हैं वे आर्थिक और शैक्षणिक विकास से मिट जाते हैं किन्तु मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले दोष नहीं मिटते। मूल प्रवृत्तियों का शोधन या नियन्त्रण आध्यात्मिकता से ही संभव है इसलिए समाज में उसका अस्तित्व अनिवार्य है।

अणुव्रत आन्दोलन एक आध्यात्मिक आन्दोलन है। जिसका मूल लक्ष्य है- जीवन के मूल्यांकन का दृष्टिकोण और उसकी उच्चता का मापदण्ड बदले— इस उद्देश्य से अणुव्रत शुरू हुआ और वह इस लक्ष्य की ओर सहज गति से बढ़ रहा है। चरित्र का न्यूनतम विकास सबमें हो, हृदय की श्रद्धा से हो- यह अणुव्रत आन्दोलन का साध्य है क्योंकि इसके बिना अर्थात् चारित्रिक विकास के बिना समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नहीं बन सकती।

वस्तुत: मानवीय, जातीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पतन के दो कारण हैं— 1. भोग विलास का अतिरेक 2. अतिसंग्रह।

प्रत्येक मनुष्य सुख-सुविधा चाहता है। इसी सुख-सुविधा की प्राप्ति हेतु वह निकृष्ट से निष्कृष्ट कार्य भी कर सकता है। इसी चाह के कारण वह दूसरों के प्रति अन्याय करता है। वह स्वयं के अधिकार की उच्चता चाहता है। इसके लिए दूसरों पर अधिकार जमाता है। दूसरों के अधिकार का हरण करता है। इस परिस्थिति के संदर्भ में अणुव्रत का लक्ष्य इस प्रकार है—

1. जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य-मात्र को आत्मसंयम की ओर बढ़ाते रहना।
2. मैत्री, एकता, शान्ति और नैतिक मूल्यों की स्थापना।
3. शोषण विहीन और स्वतन्त्र समाज की रचना।

अणुव्रत आन्दोलन का मूल लक्ष्य है स्वस्थ व्यक्ति का निर्माण और नि:संदेह स्वस्थ व्यक्ति के निर्माण से स्वस्थ समाज का निर्माण होता है क्योंकि किसी भी समाज व राष्ट्र के निर्माण की आधारभूत इकाई है व्यक्ति। स्वस्थ व्यक्ति मिलकर ही समाज और राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। अत: प्रथम आवश्यकता है व्यक्तिगत सुधार की। अणुव्रत आन्दोलन इसी ओर गतिशील है। इसके उद्देश्य, लक्ष्य सभी इसी ओर प्रेरित करते हैं। अत: इसका महत्त्व अपने आप स्पष्ट है।

5.3.2 आन्दोलन की प्रासंगिकता

विद्यार्थियों! आपने अणुव्रत आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को पढ़ा। नि:संदेह आपके मन में प्रश्न उठा होगा कि आज सारे संसार में जहाँ अर्थ सब कुछ बन रहा है, वैश्वीकरण के नाम पर पूरे विश्व में जहाँ चारों ओर प्रतिस्पर्धा का वातावरण ही नजर आ रहा है, अणुबम जैसे भयावह शस्त्रास्त्रों के कारण जहाँ विध्वंस का डर चारों ओर छाया हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को जहाँ केवल सुबह से शाम तक पैसा कमाने और विलासिता की वस्तुओं को संग्रह करने की चिन्ता है, ऐसे में अणुव्रत जैसे विषयों की क्या प्रासंगिकता?

बात सही है कि युग बदल रहा है। युग बदलाव के साथ जीवन मूल्यांकन के आधार बदल रहे हैं। किसी समय संयम, सादगी, सदाचार, स्वावलम्बन जैसे तत्त्व जीवन-मूल्यांकन के आधार थे। पर उनके स्थान पर आज प्रदर्शन, आडम्बर, साज-सज्जा, एशो-आराम जैसे तत्त्व जीवन मूल्यांकन के आधार बन रहे हैं। परन्तु हम यह भी न भूलें कि हमारे पूर्वजों ने जिन डिप्रेशन (Depression), फ्रस्टेशन (Frustration), फोबिया (Phobia), इनसेनिटी (Insanity) जैसी बीमारियों का नाम तक नहीं सुना, वे आज अधिकांश लोगों की समस्या का कारण बन रही हैं। इन मानसिक बीमारियों के कारण आज की युवा-पीढ़ी अधिकांशत: साइकेट्रिकस् (मनोचिकित्सकों) के चक्कर काटते नजर आती है। वस्तुत: सम्यक् दृष्टिकोण के अभाव में व्यक्ति जब इस सत्य को भूल जाता है कि मैं कितना भी कमाऊं, कितना ही मौज उडाऊं, एक दिन मुझे इन सब नश्वर चीजों को छोड़कर इस संसार से विदा लेनी पड़ेगी। तब वह प्रतिस्पर्धा की अंधी दौड़ में स्वयं को घसीटता चला जाता है और समाज एवं राष्ट्र में अनैतिकता, भ्रष्टाचार, हिंसा, साम्प्रदायिक दंगे, धर्म के नाम पर कलह, अप्रामाणिकता आदि-आदि फैलाता है। सम्यक् दृष्टिकोण के अभाव में इन दुष्परिणामों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

अणुव्रत का आचरण एक अर्थ में सम्यक् दृष्टि का विकास है। चूंकि अणुव्रत सर्वप्रथम मनुष्य के मस्तिष्क की धुलाई करता है, उसके मस्तिष्क में प्रतिष्ठित पुराने प्रतिस्पर्धा अप्रामाणिकता, संग्रह आदि के भावों को मिटाने का प्रयास करता है। वस्तुत: अणुव्रत ग्यारह नियमों की समष्टि है और प्रत्येक नियम की प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है।

1. मैं निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करूंगा - अणुव्रत का यह सबसे पहला नियम है। किसी भी समाज निर्माण के लिए यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस तथ्य की पुष्टि होने से ही देश, समाज, राष्ट्र में अहिंसा का वातावरण निर्मित हो सकता है। अहिंसा के प्रति आस्था का जागरण हो सकता है। हिंसा के कारण समाज में विद्वेष, शत्रुता, परस्पर में कटुता आदि भाव जागृत होते हैं। ये भाव व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक दोनों ही स्तर पर हानि पहुंचाते हैं। भ्रूणहत्या जो एक निकृष्टतम कार्य है उससे समाज को एवं उन निर्दोष कन्यायों को, जिन्हें संसार में आने से पहले ही बेरहमी से खत्म कर दिया जाता है। उन्हें बचाया जा सकता है। इस नियम में ऐसी शक्ति है जिसे अपनाकर पशु-हत्या को तिलाञ्जली दी जा सकती है। इस व्रत का आधार है— अहिंसा का विकास। इसकी भावना है— करुणा। फलत: इसे व्यापक बना दिया जाए तो व्यक्ति में क्रूरता के भावों को समाप्त कर करुणा के भावों को विकसित किया जा सकता है। जिनके परिणाम स्वरूप समाज, देश, राष्ट्र में भ्रूणहत्या, आत्महत्या की समस्या तो समाप्त हो ही सकती है साथ ही साथ विलासी मनोवृत्ति, बढ़ती हुई सुविधावादी वृत्ति पर भी अकुंश लगाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान एवं नि:शस्त्रीकरण का विकास हो सकता है। सामन्जस्य पूर्ण सहवास एवं विश्व शान्ति की कल्पना अहिंसा से ही संभव है।

2. आक्रमण नहीं करना, आक्रामण नीति का समर्थन नहीं करना - अणुव्रत का दूसरा नियम है आक्रमण नहीं करना और न आक्रामक नीति का समर्थन करना। ये नियम समाज-निर्माण के लिए आवश्यक तत्त्व है। आचार्य तुलसी के अनुसार आक्रमण एक मनोवृत्ति है। इसकी उत्पत्ति में अनेक घटक निमित्त बनते हैं। भय की प्रेरणा से आक्रामण मनोवृत्ति का उद्‌भव होता है। लोभ, क्रोध, क्षोभ आदि वृत्तियां भी इसका हेतु बनती हैं। अपनी वर्तमान की सुरक्षा के साथ भविष्य की असुरक्षा से बचाव करने तथा अपनी सुख-सुविधा को विस्तार देने के लिए मनुष्य आक्रामक बन जाता है।

आक्रमण के अनेक प्रकार हैं— आर्थिक, बौद्धिक, वैचारिक और वाचिक। ये सभी घातक परिणाम वाले हैं। तनाव पैदा करते हैं। तनाव के कारण अनेक बीमारियां पैदा होती हैं। सैनिक आक्रमण स्थूल है परन्तु उपरोक्त चारों प्रकार के आक्रमण सूक्ष्म हैं और परिणामों में ज्यादा घातक हैं।

अत: अनाक्रमण की वृत्ति को सिंचन देना अत्यावश्यक है। अनाक्रमण की वृत्ति के फलस्वरूप ही मानवीय शान्ति, जातीय शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति, विश्व शान्ति संभव है। शस्त्रास्त्र और गोलाबारुद के उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण भी अनाक्रमण की भावना को विकसित करने के लिए आवश्यक है। राष्ट्रहित की दृष्टि से आक्रामक नीति और उसका समर्थन दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं है। अणुव्रत के सहयोग से अनाक्रमण की वृत्ति को विकसित किया जा सकता है।

3. मैं हिंसात्मक तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा – समाज निर्माण में अनेक घटक सहायक बनते हैं, उनमें से एक महत्त्वपूर्ण घटक है अणुव्रत का तीसरा नियम। आज के युवक कर्मचारी वर्ग अपनी मांगों को मनवाने के लिए कभी-कभी अन्य कारणों से हिंसात्मक तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियाँ करते और करवाते हैं। जो कि स्वस्थ पद्धति नहीं है। ऐसी प्रवृत्तियों के दौरान बहुत बार बहुत से निर्दोष लोगों को बेमौत मार दिया जाता हैं। कितने घर अकारण जला दिये जाते है। इन हरकतों के दौरान अनेक समस्याओं का सामना समाज एवं देश को करना पड़ता है। यदि उपरोक्त व्रत को ग्रहण किया जाए तो समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की उच्छृंखलता एवं उदण्डता दूर हो सकती है। तथा इस व्रत के द्वारा अनुशासन, धैर्य, समता, शान्ति, विनम्रता आदि मानव मूल्यों को विकसित किया जा सकता है। इस व्रत के द्वारा जनहानि, धनहानि तथा अनावश्यक अपव्यय को भी काफी सीमा तक रोका जा सकता है।

4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा। जाति रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नहीं मानूंगा- समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह मानवीय एकता में विश्वास करे। जब तक इस दिशा में विकास नहीं होता तब तक मानव जाति का उत्थान नहीं होता। यद्यपि उपयोगितावाद ने मनुष्य जाति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र आदि वर्गों में विभाजित किया। परन्तु ये वास्तविक नहीं है। किन्तु जब वास्तविक मान लिया जाता है तब अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं और हो रही हैं। अयोग्य व्यक्ति उच्च पदों पर आसीन होते हैं और योग्य सड़कों पर रोजगार पाने हेतु भटकते हैं। एक ही चमड़ी वाले दो व्यक्ति स्पृश्य और अस्पृश्य कहलाते हैं। जो निश्चय दृष्टि से एक जघन्य अपराध है। अणुव्रत का चौथा नियम अपनाकर या इसे व्यापक स्तर प्रदान किये जाने पर समाज में छुआछूत, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, वर्ण, जाति आदि का भेद मिटाकर मनुष्य-मनुष्य में एकता और अखण्डता आदि की भावना को उजागर किया जा सकता है।

5. धार्मिक सहिष्णुता रखना तथा साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाना - धर्म आत्म शुद्धि का साधन है। जिस किसी उपाय से आत्मा की शुद्धि होती है, वह धर्म है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और अपरिग्रह यह पांच धर्म के साधन हैं इसके सिवाय दूसरा कोई धर्म नहीं है। कोई धर्म ऐसा नहीं कहता कि हिंसा करो, झूठ बोलो, चोरी करो। धर्म का सारतत्त्व एक ही है। फिर भी मनुष्य ने धर्म को सम्प्रदाय के आधार पर बाँट दिया- बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इसाई धर्म आदि-आदि। धर्म को अनेक सम्प्रदाय में बांटा गया। सम्प्रदाय गलत नहीं है। परन्तु धर्म के नाम पर अपने-अपने सम्प्रदाय को लेकर लड़ना, झगड़ना गलत है। धर्म जहाँ शान्ति का संदेश देता है वहीं धर्म के नाम पर कलह, वैमनस्य का वातावरण निर्मित करना अनुचित है। अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु रहकर ही सुख और शान्ति के वातावरण का निर्माण किया जा सकता है। सम्प्रदाय भिन्न होने पर भी परस्पर सौहार्द से रहने वाला समाज विकास की ऊंचाइयों को छुता है। सामाजिक विघटन का एक बहुत बड़ा कारण है— साम्प्रदायिकता। इस व्रत के द्वारा अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु रहकर परस्परता, सौहार्द एवं सामंजस्य की पौध को हरा-भरा किया जा सकता है।

6. व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिकता रखना- व्यवसाय में आर्थिक अपराध, भ्रष्टाचार, घोटाले, तोल-माप में कम-बेसी, धोखाधड़ी, मिलावट आदि होते है। यह एक जघन्य अपराध है। स्वयं की स्वार्थ पूर्ति के लिए दूसरों की अवहेलना करना, शोषण करना अनुचित है। इससे समाज में अनेक अन्य समस्याएं पैदा होती हैं। आचार्य तुलसी ने कहा- वही समाज उन्नत हो सकता है, जिस समाज में व्यवस्था और व्यवहार में प्रामाणिकता हो। आजीविका हेतु व्यवसाय करना सामाजिक प्राणी के लिए अनिवार्य है परन्तु नैतिकता का उल्लंघन कर किया गया व्यवसाय देश, समाज व राष्ट्र में समस्या पैदा करता है। वर्तमान समय में इन समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए अणुव्रत का छठा नियम उपादेय है।

7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा करूँगा- जिस समाज में काम पर नियन्त्रण किया जाता है, वह स्वस्थ समाज है। सामाजिक स्वस्थता के लिए ब्रह्मचर्य की साधना या ब्रह्मचर्य की सीमा बहुत जरूरी है। वर्तमान में उन्मुक्त भोग के कारण ही एड्स जैसी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। पारिवारिक विघटन का भी एक बहुत बड़ा कारण है स्वयं की पत्नी/पति तक सीमित न रहना। बलात्कार जैसे घृणित कार्य की बढ़ती संख्या भी वासना के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण न किया जाना ही है। यदि स्वस्थ समाज का निर्माण करना है और इन समस्याओं से छुटकारा पाना है तो हमें इस व्रत को स्वीकार करना होगा। संग्रह की वृत्ति जितनी अधिक होती है, व्यक्ति उतना ही क्रूर बन जाता है। क्रूर व्यक्ति हिंसा करता है, समाज में आतंक फैलाता है। नियन्त्रित आवश्यकता और नियन्त्रित उपभोग से समाज में करुणा का जन्म होता है। करुणा स्वस्थ वातावरण का निर्माण करती है। अत: आज इस प्रतिस्पर्धा के युग में संग्रह की सीमा करना अत्यावश्यक है।

8. चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा- जनतन्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू चुनाव है। जनतन्त्र में स्वस्थ मूल्यों को बनाए रखने के लिए चुनाव की स्वस्थता आवश्यक है। चुनाव का समय देश के भविष्य निर्धारण का समय है। अभाव और

लोभ दिखाकर लोकमत प्राप्त करना, चुनाव के सही अर्थ को लोप करना है। चुनाव चाहे संसद के हो, विधानसभा के हो महाविद्यालय के हो या अन्य सभा और संस्थाओं के, जहां नीति खराब हो जाती है वहां महासमर खड़ा हो जाता है। जिस चुनाव में प्रवंचना, आडम्बर, पक्षपात, अनावश्यक अर्थ का अपव्यय होता है। वहाँ समाज, देश व राष्ट्र का आर्थिक ढांचा चरमरा जाता है। आज हमारे देश में बढ़ते घोटाले व भ्रष्टाचार के जिम्मेवार हम स्वयं ही हैं क्योंकि हम चुनावों में अनैतिकता को मान्यता देते हैं। जिसके कारण देश की बागडोर ऐसे लालची एवं भ्रष्ट लोगों के हाथ लग जाती है जो देश को नष्ट करके छोड़ते हैं। अत: अपेक्षा है आज अणुव्रत का आठवां नियम व्यापक स्तर पर लागू किया जाए और देश का प्रत्येक नागरिक इसे सहृदय स्वीकार करे।

9. सामाजिक कुरीतियों को प्रश्रय नहीं दूंगा– समाज निर्माण में कुरूढ़ि भी बाधक होती है।

रूढ़ि का अर्थ है— एक वस्तु, विचार या परम्परा का स्थिरीकरण अथवा जड़े जमाना। कार्य–निष्पत्ति की दृष्टि से रूढ़ि अनिवार्य है और एक सहज प्रक्रिया है परन्तु रूढ़ि उस स्थिति में कुरुढ़ि बन जाती है। जब उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जिसकी उपयोगिता समाप्त हो गई, उस विचार या परम्परा को निभाने का आग्रह कुरूढ़ि है। आज भी हमारे समाज में वृहदभोज, मृत्युभोज, बालविवाह, पर्दाप्रथा, दहेज प्रथा जैसी अनेक कुरूढ़ियाँ प्रचलित हैं। इनसे मुक्त होने के लिए अणुव्रत का यह व्रत अत्यावश्यक है।

10. व्यसन मुक्त जीवन जीऊंगा। मादक तथा नशीले पदार्थ शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग, तम्बाकु आदि का सेवन नहीं करूंगा – अणुव्रत का दसवाँ नियम आज अत्यन्तापेक्षित है। क्योंकि आज हमारे समाज के छोटे–छोटे बालक भी मादक पदार्थ का सेवन करना अपनी शान समझते हैं जबकि मद्यपान एक ऐसी बुराई है, जिसकी उपस्थिति में अन्य अनेक बुराइयाँ मनुष्य पर हावी हो जाती हैं। व्यक्ति की तेजस्विता एवं यशस्विता खत्म हो जाती है। शराब से जहाँ स्वास्थ्य मन–मस्तिष्क और इज्जत पर दुष्प्रभाव पड़ता है वही चरस, हीरोइन, स्मेक आदि के सेवन से विवेक शक्ति समाप्त होती है, स्नायविक दुर्बलता बढ़ती है, जीवनी शक्ति क्षीण होती है, चिन्तन शक्ति घटती है, अपराधी मनोवृत्ति जन्म लेती है। अत: आज की युवापीढ़ी को इन मादक द्रव्यों के सेवन से बचाना बहुत जरूरी है। इसके लिए उक्त नियम ग्रहणीय है।

11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा। हरे भरे वृक्ष नहीं काटूंगा – पर्यावरण की समस्या आज के युग की ज्वलंत समस्या है। आज जंगलों की अंधाधुंध कटाई होने के कारण समाज में जीने वालों को पर्याप्त मात्रा में शुद्ध आक्सीजन उपलब्ध नहीं हो रही है। शुद्ध ऑक्सीजन के अभाव में प्राय: व्यक्तियों को शारीरिक मानसिक बीमारियों का सामना करना पड़ रहा है।

खनिज पदार्थों का अतिमात्रा में दोहन होने से प्राकृतिक प्रकोप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प बाढ़ जैसी समस्याएं आए दिन परेशान करती है। पानी का अनावश्यक अपव्यय होने से अनेक व्यक्तियों को पेयजल उपलब्ध नहीं हो पा रहा है।

ऐसी अवस्था में व्यक्ति कैसे स्वस्थ जीवन जीए? समाधान एक ही है समाज का प्रत्येक सदस्य पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अणुव्रत के ग्यारहवें नियम को धारण करे।

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अणुव्रत के ग्यारह नियमों की प्रासंगिकता आज स्वयं सिद्ध है। इन नियमों का पालन किये बिना समाज, देश व राष्ट्र का उत्थान नहीं हो सकता।

अणुव्रत : कार्यक्षेत्र

अणुव्रत आन्दोलन स्वस्थ समाज की संरचना का आन्दोलन है। इसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण समाज है। स्वस्थ समाज के निर्माण एवं व्यक्ति में नैतिक चेतना के जागरण के लिए न्यूनतम आचार–संहिता के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया। समाज में अनेक वर्ग हैं, अनेक व्यवसाय हैं। उनमें व्याप्त अनैतिकता तथा बुराइयों को दूर करने के लिए वर्गीय अणुव्रतों का विशेष रूप से सृजन किया गया। यह आन्दोलन व्यक्ति–व्यक्ति के सुधार द्वारा स्वस्थ समाज की रचना करना चाहता है।

समाज में व्याप्त बुराइयों के प्रतिकार हेतु जन–जागरण इसका मुख्य उद्देश्य है। तदर्थ वातावरण का निर्माण, व्यक्ति–व्यक्ति को अणुव्रत की आचार संहिता से परिचय, स्वेच्छा से बुराइयों को छोड़ने के लिए प्रेरणा एवं संकल्पबद्ध करना अणुव्रत की कार्यशैली है। इसके द्वारा मुख्य रूप से निम्नलिखित क्षेत्रों में कार्य किया जाता है।

1. शिक्षा क्षेत्र (Education and Anuvrat) - शिक्षा का बहुत व्यापक क्षेत्र है। यह समस्त प्रगति का आधार है। पर इस

क्षेत्र में भी अनेक बुराइयां तेजी से बढ़ रही हैं। छात्रों में उच्छृंखलता, उद्दण्डता, तोड़-फोड़, नशा, परीक्षा में अवैद्य उपायों का प्रयोग तेजी से बढ़ता जा रहा है। शिक्षकों में भी दलगत राजनीति व मात्र बौद्धिक आस्था ने अपना विशेष स्थान बना लिया है। अभिभावकों की व्यस्तता व उदासीनता भी बच्चों के चारित्रिक व नैतिक ह्रास को बढ़ा रही है।

अणुव्रत आंदोलन द्वारा विद्यार्थी, शिक्षक और अभिभावक तीनों के नैतिक उत्थान के लिए त्रिकोणात्मक अभियान चलाया जाता है। विद्यार्थियों के लिए विद्यार्थी अणुव्रत हैं। उनमें अणुव्रत परीक्षाएं भी आयोजित होती है। इसमें प्रतिवर्ष हजारों विद्यार्थी भाग लेते हैं। वे अणुव्रत की भावना, चिन्तन व दर्शन से परिचित होते हैं। शिक्षकों के नैतिक जागरण के लिए ''शिक्षक अणुव्रतों'' का प्रावधान है। अब तक लाखों शिक्षक अणुव्रती बने हैं। इस कार्य को और अधिक गति देने हेतु 'अणुव्रत-शिक्षक-संसद' एवं 'अणुव्रत-छात्र-संसद' का गठन किया गया है।

2. आर्थिक क्षेत्र (Commercial enterprises & Anuvrat) - समाज के आर्थिक ढांचे में शोषण, मिलावट, कम माप-तौल, जमाखोरी आदि अनेक बुराइयां हैं। इसे समाप्त करने की दृष्टि से इस आंदोलन द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। समय-समय पर मिलावट विरोधी अभियान चलाये जाते हैं। व्यापारियों की सभाओं का आयोजन किया जाता है। उसमें नैतिक चेतना को जगाया जाता है। उन्हें 'व्यापारी-अणुव्रत' से परिचय करवाया जाता है। उनमें से अनेक व्यक्ति स्वेच्छा से 'व्यापारी अणुव्रतों' को स्वीकार करते हैं एवं स्वस्थ समाज की भूमिका में योगदान देते हैं।

3. राजनैतिक क्षेत्र (Politics and Anuvrat)- राजनीति सम्पूर्ण देश की व्यवस्था का संचालन करती है। उसके कर्णधारों में बढ़ती हुई अनैतिकता, भ्रष्टाचार, हिंसा, आतंक, प्रलोभन आज सम्पूर्ण राष्ट्र में चिन्ता का विषय है। अणुव्रत आंदोलन के अन्तर्गत राजनीति में नैतिक चेतना के और राष्ट्रीय-चेतना जागरण के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। राज्य कर्मचारियों में नैतिक भावनाओं का संप्रेषण कर उन्हें जागरूक बनाया जाता है। चुनाव लोकतंत्र की जन्म-कुण्डली है। इसमें जैसे-जैसे ग्रह-नक्षत्र घरों में बैठ जाते हैं, उनका फलादेश पूरे राष्ट्र को पांच वर्ष तक प्राप्त होता रहता है। अणुव्रत ने समस्त राजनैतिक पार्टियों से सम्पर्क स्थापित कर एक सर्वमान्य चुनाव आचार-संहिता का निर्माण किया है। चुनाव के समय प्रत्याशी अणुव्रत और मतदाता अणुव्रत से जनता को परिचित कराया जाता है। लोकतंत्र के सच्चे स्वरूप के प्रति जागरूक किया जाता है।

4. मानवीय एकता (Unity and Anuvrat)- दुनिया अनेक विविधताओं से भरी हुई है। भाषा, जाति, सम्प्रदाय, रंग एवं लिंग की विविधता के बीच अणुव्रत मानवीय एकता की आवाज को मजबूत करता है। विभेद हमारी उपयोगिता है। इस उपयोगिता को वास्तविकता मानना समस्या पैदा करता है। इन सभी भेदों से ऊपर उठकर अणुव्रती कार्यकर्त्ता एक मंच से एक साथ हिल-मिलकर नैतिक अभियान को आगे बढ़ाते हैं। मानवीय एकता की भावना को पुष्ट करते हैं।

5. धार्मिक क्षेत्र (Religion and Anuvrat) - अणुव्रत आंदोलन एक असाम्प्रदायिक आन्दोलन है। इसके द्वारा सर्वधर्म सद्भाव की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है। समय-समय पर सभी धर्म के लोग एक मंच पर उपस्थित होते हैं। विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। सर्वधर्म सद्भाव का वातावरण बनाते हैं। अणुव्रत आंदोलन ने सर्वधर्म सद्भाव की दृष्टि से एक पंच-सूत्री योजना भी प्रस्तुत की। वह इस प्रकार है-

1. मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किया जाए।
2. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
3. दूसरे सम्प्रदाय व अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाये।
4. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाये।
5. धर्म के मौलिक तत्त्वों- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने के सामूहिक प्रयत्न किये जाएँ।

6. विश्व-शान्ति (World Peace & Anuvrat)- आज विश्व शान्ति का प्रश्न पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। अणुव्रत आंदोलन विश्व में अहिंसा द्वारा शान्ति स्थापित करने का एक रचनात्मक उपक्रम है। न्यूनतम मानवीय मूल्यों के प्रति वैयक्तिक संकल्प का विकास कर विश्व को हिंसा से मुक्ति दिलाने का यह अनूठा प्रयोग है। प्रत्येक व्यक्ति यदि स्वेच्छा से आक्रमण करने का परित्याग करदे, अहिंसा-अणुव्रत को ग्रहण कर ले तो यह आतंकवाद अपने आप समाप्त हो जाता है। इस हेतु समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। ऐसे ही ''विश्व शान्ति और अहिंसक उपक्रम'' विषय पर तीन अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम

आयोजित किये गये। जिसकी अनुगूंज यू. एन. ओ. तक हुई है। अहिंसक कार्यकर्त्ताओं के लिए ''अहिंसा-प्रशिक्षण'' का कार्यक्रम भी चलता है, जिससे वे आगे जाकर इस दिशा में विशेष कार्य कर सकें।

7. पर्यावरण चेतना (Environmental Consciousness and Anuvrat)- असीम उपभोक्तावाद तथा सुख-सुविधावादी दृष्टिकोण ने पर्यावरण के असंतुलन को बढ़ाया है। पदार्थ सीमित है, उपभोक्ता अधिक हैं और इच्छाएँ असीम हैं। अतः इसके स्वस्थ संतुलन के लिए अणुव्रत-आंदोलन ने इच्छा-संयम पर बल दिया है। जन-जन में पर्यावरण चेतना को जगाने के लिए अणुव्रत आंदोलन ने अणुव्रतों का निर्माण किया है। उसके अन्तर्गत व्यक्ति संकल्पबद्ध होता है कि मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा। हरे-भरे वृक्ष को नहीं काटूंगा। पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

8. समाज (Society and Anuvrat)- समाज में क्षेत्र व समय की आवश्यकतानुसार नियम व रीति-रिवाज बनते हैं। कालान्तर में उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। वे रूढ़ि बन जाते हैं। ऐसी रूढ़ियां समाज के विकास में बाधक होती हैं। समाज के ढांचे में अस्पृश्यता, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा, मृत्यु-भोज, शोक-प्रथा, पर्दा-प्रथा, व्यसन, निरक्षरता जैसे अनेक अभिशाप हैं, जो समाज को रुग्ण बना रहे हैं। अणुव्रत इसके निवारणार्थ समय-समय पर अस्पृश्यता-निवारण, रूढ़ि-मुक्ति, व्यसन-मुक्ति, दहेज-विरोधी अभियान, साक्षरता एवं महिला-जागृति जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों का संचालन करता है। इसके अतिरिक्त ''अणुव्रत-परिवार'' एवं ''अणुव्रत ग्राम'' की योजना को भी साकार रूप दिया जा रहा है।

9. महिला जागृति (Women Awareness and Anuvrat)- अणुव्रत आंदोलन के अन्तर्गत महिला जागृति का भी अपना एक अमूल्य पृष्ठ है। महिला जागृति के लिए महिला-अणुव्रतों का विधान किया गया जिनके माध्यम से वे बुराइयों से ऊपर उठकर स्वस्थ समाज निर्माण में सहयोगी बनती हैं। इस आन्दोलन के माध्यम से वे संगठित होकर अनेक सामाजिक कार्य में भाग लेती हैं। ऐसी महिलाएं 'महिला मण्डल' के रूप में संगठित होकर रक्त दान, विकलांग सहयोग, गरीब-बच्चों को गोद लेने जैसे समाज-सुधार के महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लेती हैं।

बोध प्रश्न-2

1. शिक्षकों के नैतिक जागरण के लिए प्रावधान है —

(क) वर्गीय अणुव्रत
(ख) विद्यार्थी अणुव्रत
(ग) शिक्षक अणुव्रत
(घ) अधिकारी अणुव्रत

2. अणुव्रत का कार्यक्षेत्र कौन-सा है —

(क) शिक्षा क्षेत्र
(ख) आर्थिक क्षेत्र
(ग) सम्पूर्ण समाज
(घ) सभी

3. ''विश्व शान्ति और अहिंसक उपक्रम'' पर कितने अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम आयोजित किये गये —

(क) एक
(ख) दो
(ग) तीन
(घ) आठ

4. अणुव्रत का मुख्य लक्ष्य है—

(क) शोषण विहीन स्वस्थ समाज की रचना।

(ख) मैत्री, एकता, शान्ति और नैतिक मूल्यों की स्थापना।

(ग) जाति, वर्ण, सम्प्रदाय का भेदभाव न रखते हुए आत्मसंयम की ओर बढ़ना।

(घ) उपरोक्त तीनों।

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये—

(1) अणुव्रत की प्रासंगिकता पर अपने विचार प्रस्तुत करें।

(2) अणुव्रत के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए, अणुव्रत के कार्यक्षेत्र की चर्चा करें।

5.4 स्वस्थ समाज संरचना का आधार : अणुव्रत

भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षा या आश्वासपूर्ण वातावरण-ये चार जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं हैं। व्यक्ति को भोजन और स्वास्थ्य की जितनी अपेक्षा रहती है उतनी ही आवश्यकता रहती है शिक्षा और सुरक्षा की। जिस समाज में इन चारों की समुचित्त व्यवस्था होती है वह समाज उन्नत समाज कहलाता है। उन्नत समाज का हर सदस्य विकास करता है, अपना निर्माण करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के दो मार्ग हैं—1. कठोर अनुशासन, 2. नैतिक चेतना का जागरण।

जहाँ कठोर अनुशासन और नियन्त्रण से यह व्यवस्था आती है वहां इन अनिवार्यताओं की पूर्ति तो हो जाती है, किन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना कुण्ठित हो जाती है। मार्क्स ने जो साम्यवादी व्यवस्था दी, उससे वर्ग संघर्ष समाप्त हुआ। शोषण और व्यक्तिगत संग्रह का भी अन्त हुआ किन्तु सामाजिक अतिनियन्त्रण और यांत्रिकता ने व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना पर प्रहार किया। परिणामस्वरूप जनमानस कुण्ठा से आक्रान्त हुआ। जनसाधारण की अनिवार्यतया और आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो, स्वतन्त्रता का हनन भी न हो। इसके लिए दूसरा उपाय प्रशस्त है—नैतिक चेतना का जागरण।

5.4.1 आचार्य तुलसी की दृष्टि में सामाजिक समस्याएँ

आचार्य तुलसी समाज को चिरंजीवी बनाने के लिए उसका अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की भित्ति पर अवस्थित होना आवश्यक मानते हैं। अहिंसा और अशाोषण की नींव पर ही समाज का पुननिर्माण होता है। समाज निर्माण के लिए मर्यादा और अनुशासन को आवश्यक मानते हैं। मर्यादा व अनुशासनहीन समाज अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। मर्यादा के अभाव में समाज उच्छृंखल बन जाता है। विकास के नए रास्ते बन्द हो जाते हैं। मर्यादा व अनुशासन न हो तो न्याय और संविभाग नहीं मिल सकता। समाज को स्वस्थ बनाये रखने में मर्यादा और अनुशासन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

आचार्य तुलसी ने अपने जीवन काल में समाज एवं मानव की स्थिति का अध्ययन किया। अध्ययन के बाद उनको लगा समाज अन्ध-मान्यताओं एवं कुरूढियों से जकड़ा हुआ है। मानव समाज जिन समस्याओं से संत्रस्त था उनका विवेचन उन्होंने इस प्रकार किया—

1. जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव - सम्यक् दृष्टि के अभाव में वर्तमान समाज में विलासिता की वृत्ति तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। जीवन के यथार्थ को न समझने के कारण व्यक्ति प्रतिस्पर्धा में लगा हुआ है। वह घर में सुख सुविधा या अनिवार्यतम् आवश्यकता की वस्तु हो न हो पर विलासिता की सामग्रियों को जुटाने का भरसक प्रयास करता है। अब तक किसी ने ऐसे कपड़े नहीं पहने, ऐसे गहने पहनकर सबके आकर्षण का केन्द्र बनने का प्रयास करता है। ऐसी वृत्ति के पीछे एक ही कारण है- सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव। यर्थाथ दृष्टिकोण के अभाव में पदार्थवादी चेतना बढ़ती जा रही है।

2. खान-पान में अशुद्धि - आचार्य तुलसी ने समाज की बदलती दशा या वर्तमान सामाजिक विघटनों का एक बहुत बड़ा कारण माना—खान-पान में अशुद्धि। आर्थिक सम्पन्नता, शहरी वातावरण, आकर्षक विज्ञापन और नए सम्पर्क आदि ऐसे अनेक कारण हैं, जिन्होंने अधिकांश परिवारों में मदिरा, धूम्रपान जैसे पदार्थों का सेवन, मांस, अण्डे आदि के प्रयोग के रास्ते खोले हैं। समाज के युवक कहीं खुले आम, कहीं छिपकर अखाद्य, अपेय वस्तु का इस्लेमाल करते हैं। जो समाज के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। आवश्यकता है स्वस्थ समाज निर्माण हेतु खान-पान की तरफ हमारे अविभावक वर्ग के साथ-साथ स्वयं युवकों का सही चिन्तन हो।

3. शिक्षा का गलत दृष्टिकोण - विभिन्न विचारकों ने देशकाल परिस्थितियों के सापेक्ष, शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों पर बल दिया है। प्राचीनकाल में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना था इसलिएस परा व अपरा दोनों विद्याओं का ज्ञान एक

शिक्षार्थी को प्रदान किया जाता था। स्वामी विवेकानन्द विद्यार्थी में देश प्रेम की भावना का विकास, मानव प्रेम, सेवा, विश्वबन्धुत्व तथा शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक शिक्षा एवं व्यावसायिक विकास को शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। महात्मा गांधी विद्यार्थी को पवित्रता प्रदान कर उसके चरित्र के निर्माण तथा शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों के विकास द्वारा व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। परन्तु तत्कालीन समाज में शिक्षा के ये सभी उद्देश्य गौण हो गए। केवल एक मात्र उद्देश्य रह गया है जितना हो सके विद्यार्थी के ज्ञान का विकास करना एवं आजीविका अर्जन के योग्य बनाना।

4. दुर्व्यसन – चरणकरणानुयोग में सात प्रकार के व्यसनों का उल्लेख मिलता है — जुआ, मद्यमान, मांसभक्षण, वेश्या-गमन, शिकार, चोरी, और परस्त्रीगमन—ये सात दुर्व्यसन हैं। दुर्गति गमन में हेतुभूत हैं।

स्वस्थ समाज निर्माण हेतु सभी त्याज्य हैं। क्योंकि व्यसन करने वालों की चिन्तन शक्ति धीरे-धीरे घट जाती है। विवेक शक्ति कमजोर होती है और अपराधी मनोवृत्ति जन्म लेती है। जो भावी पीढ़ी के निर्माण में बाधा पहुंचाती है। फिर भी तात्कालीन समाज में दुर्व्यसनों की जड़ें मजबूत हो रही थी।

5. दहेज मुक्ति – जो हेज (अर्थात् प्रेम से दिया जाए) वह दहेज है। एक समय ऐसा था जब दहेज देने वाले भी खुश होते थे और लेने वाले भी। क्योंकि उस समय दहेज के लिए कोई मांग नहीं होती थी। पिता अपनी खुशी से जो चाहता वह अपनी पुत्री को देता। परन्तु तत्कालीन समाज में दहेज के साथ आकांक्षा की विकृति जुड़ गई। दहेज न लाने पर नववधू को व्यंग्यवाणी से छलनी करना उसे शारीरिक, मानसिक यातनाएं, बात-बेबात मारपीट, घर से निकाल देना या फिर जिन्दा जला देना जैसी हरकतें की जाने लगी थी।

6. प्रदर्शन की भावना – प्रदर्शन अर्थात् दिखावा करना। प्रदर्शन से सामाजिक जीवन बोझिल और अभिशप्त बनता है। बाहरी प्रदर्शन, दिखावा, फैशन-परस्ती समाज के आर्थिक ढाँचे को खोखला बनाती है। जिस समाज में आडम्बर, दिखावा, झूठा प्रदर्शन होता है। वह समाज अल्प समय में धाराशायी हो जाता है। विवाह एक सामाजिक परम्परा है। इसके परिपार्श्व में जो विकृतियां बढ़ती है, जैसे : बड़े-बड़े भोज, सजावट में लाखों, करोड़ों का अपव्यय, बिजली की अतिरिक्त जगमगाहट शादियों में शराब का प्रयोग, दहेज की मांग आदि समाज की स्वस्थता को अदृश्य रूप से हानि पहुंचाते हैं। परन्तु उस समय प्रदर्शन की भावना बढ़ रही थी।

5.4.2 स्वस्थ समाज : अणुव्रत सूत्र

जब-जब मानव समाज समस्याओं से पीड़ित हुआ, महापुरुषों ने इनके निराकरण करने हेतु कदम उठाये हैं। बहुत बार राजनीति ने भी ऐसे मूल्यों को स्थापित किया जिससे स्वस्थ समाज का निर्माण हो सके। यह अलग बात है कि व्यक्ति की स्वस्थता के बिना वे सभी अपने लक्ष्य को प्राप्त किये बिना ध्वस्त हो गए। समाज निर्माण की महत्त्वपूर्ण इकाई है— व्यक्ति। व्यक्ति की स्वस्थता के बिना समाज स्वस्थ नहीं हो सकता। इस बात को ध्यान में रखते हुए आचार्य तुलसी एवं महाप्रज्ञ ने गहन चिन्तन एवं मनन के बाद स्वस्थ समाज संरचना हेतु अणुव्रत के मंच से कुछ सूत्र निर्धारित किये —

1. हिंसा समस्या का समाधान नहीं, इस आस्था का निर्माण।
2. मानवीय एकता में विश्वास।
3. दूसरों के श्रम का अशोषण।
4. मानवीय सम्बन्धों का विकास।
5. अर्थ एवं सत्ता का विकेन्द्रीकरण।
6. वैचारिक-सहिष्णुता।
7. जीवन-व्यवहार में करुणा का विकास।
8. आहार-शुद्धि और व्यसन-मुक्ति।
9. सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार।

इन नौ सूत्रों में अणुव्रत की पूरी समाज-रचना प्रतिबिम्बित है।

1. हिंसा समाधान नहीं – समाज-रचना पर विचार करते समय बहुत बार अहिंसा शब्द सामने आता है। इसमें कोई शक नहीं है कि अहिंसा प्राणी मात्र को जोड़ने वाली कड़ी है। पर इस सन्दर्भ में वह इतनी वजनी बन जाती है कि एक सामाजिक व्यक्ति उस बोझ को नहीं उठा सकता। गृहस्थ जीवन में सूक्ष्म हिंसा से बचना तो असम्भव है ही, स्थूल हिंसा से भी एक सीमा तक ही बचा जा सकता है। एक सन्यासी के लिए सूक्ष्म और स्थूल हिंसा से बचना सम्भव है। क्योंकि उसके सामने न तो परिवार होता है और न परिग्रह। सामान्य आदमी इन दोनों से मुक्त नहीं हो सकता। जब भी उसके परिवार और परिग्रह की प्रभुसत्ता पर आक्रमण होता है तो वह उसका प्रतिकार करता है। प्रतिकार चाहे कितना ही सात्त्विक क्यों न हो पर उस पर हिंसा का प्रतिबिम्ब आए बिना नहीं रहता। कुछ लोग उस हिंसा को भी अहिंसा मान लेते हैं, पर यह दुहरी भूल है। हिंसा तो हिंसा ही है, उसे अहिंसा नहीं कहा जा सकता। ऐसे स्थिति में उसे

अहिंसक समाज-रचना कहने की अपेक्षा स्वस्थ समाज-रचना कहना ज्यादा संगत प्रतीत होता है।

स्वस्थ समाज-रचना में भी हिंसा को समस्या का समाधान नहीं माना जा सकता। वर्तमान राजनीति में हिंसा शस्त्र को ही समाधान माना जाता है, यही समस्या का मूल है। एक ओर जब शस्त्र पर धार चढ़ती है तो दूसरी ओर उसे और भी ज्यादा तेज बनाने का प्रयास शुरू हो जाता है। इस स्पर्धा ने ही पूरी दुनिया में शस्त्रों के भयंकर जखीरे खड़े किए हैं पर उनसे समस्या उलझी ही है। अणुव्रत का दूसरा व्रत है— मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा तथा आक्रामक नीति का समर्थन भी नहीं करूंगा। जब आदमी आक्रामक नहीं होगा तो अहिंसा की प्रतिष्ठा अपने आप हो जाएगी। यह अहिंसा में आस्था होने का पहला चरण है।

सामाजिक आदमी पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकें तो भी यह तो आवश्यक है कि उसकी आस्था अहिंसा में रहे। कुछ लोग हिंसा से बच नहीं सकते, इसलिए उसे ही समाधान का उपाय मान लेते हैं। यह हिंसा की प्रतिष्ठा है। अणुव्रती कभी-कभी हिंसा से बच नहीं सकता फिर भी वह उसे आदर्श नहीं मानता, यह अहिंसा की प्रतिष्ठा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्या का अन्तिम समाधान अहिंसा में ही निहित है। समय पर कभी अशक्य कोटि की हिंसा का आचरण हो भी जाता है तो भी वह स्वस्थ जीवन का विकास नहीं है। हिंसा हिंसा को जन्म देती है। सारा संसार इस क्रिया-प्रतिक्रिया के जाल में उलझ रहा है, ऐसी स्थिति में 'हिंसा समस्या का समाधान नहीं है' पर आस्था—अहिंसा की एक महत्वपूर्ण उद्घोषणा है।

2. मानवीय एकता - अणुव्रत समाज-रचना का दूसरा सूत्र है- मानवीय एकता में विश्वास। हमें भूगोल और इतिहास की इस सच्चाई को स्वीकार करना चाहिए कि मानव-समाज कई भागों में बंटा हुआ है। इसी से राष्ट्रों की सीमाएं खड़ी होती हैं। भविष्य में भी इस विभक्ति को मिटाया जा सके, यह सम्भव नहीं है। फिर भी यदि मानवीय एकता में विश्वास किया जाए तो भावात्मक दूरियों को समाप्त किया जा सकता है। **जमीन पर खिंची हुई लकीरें कृत्रिम हैं, जब मन में दीवार खड़ी हो जाती है तो उनमें प्राण पड़ जाते हैं।** इसीलिए संकीर्ण राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर मानवीय एकता पर विश्वास स्वस्थ समाज-रचना का महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है।

3. परस्परोपग्रह - समाज-रचना के बारे में एक मान्यता मात्स्य न्याय की रही है। उसके अनुसार बड़ी मछली हमेशा छोटी मछली को निगलकर ही अपना अस्तित्व कायम रख सकती है। पर यह तो जंगल का न्याय है। आदमी का न्याय तो परस्परोपग्रह की भूमिका पर ही अधिष्ठित हो सकता है। **एक मनुष्य का हित दूसरे के विरोध में नहीं अपितु सहयोग में ही निहित है।** भले ही कुछ लोग अपने बौद्धिक सामर्थ्य से कुछ गरीब लोगों के श्रम का शोषण कर एक बार बड़े बन जाएं, पर यह व्यवस्था बहुत लम्बी नहीं चल सकती। इसमें कुछ गरीब लोग भले ही कुछ दिनों के लिए चुप रह जाएं, पर अंतत: प्रतिक्रान्तियां घटित होती ही हैं। इससे जहां कुछ लोगों को कष्टमय जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ता है तो अन्य लोग भी लम्बे समय तक शांति से नहीं जी सकते। दूसरी ओर यदि आदमी दूसरों के श्रम का शोषण न करे तो न केवल वह स्वयं ही शांत जीवन जी सकता है अपितु दूसरे लोगों की अपेक्षा मनुष्य को ज्यादा महत्त्व दे सकते हैं।

मानवीय सम्बन्धों का यह सेतु ही आदमी-आदमी के बीच संवाद बनाता है। यह केवल राष्ट्र का ही सवाल नहीं है। एक राष्ट्र में रहने वाले लोग भी आपस में बहुत सारे भेद-खड़े कर लेते हैं। जाति-भेद, रंग-भेद आदि इसी भेद की अभिव्यक्तियां हैं। जब आदमी में मानवीय सम्बन्धों का विकास हो जाता है छुआछूत जैसी धारणाएं टिक ही नहीं सकतीं।

4. सत्ता और अर्थ - सत्ता और अर्थ समाज-रचना के दो प्रमुख संघटक हैं। जितनी प्रमुखता से ये संघटक हैं, दुष्प्रयोज्य होने पर उतने ही विघटक भी बन जाते हैं। ये दोनों जितने केन्द्रीय होते हैं उतनी ही अव्यवस्था फैलती है। एक जमाना था जब साम्राज्यवाद को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पर अपने केन्द्रीय स्वरूप के कारण आज वह अप्रतिष्ठित और अप्रासंगिक बन जाता है। उसका स्थान आज लोकतंत्र ने ले लिया है। पर लोकतन्त्र की सफलता भी इसी पर निर्भर है कि वह सत्ता और अर्थ को ज्यादा-से-ज्यादा विकेन्द्रीय करें। जब भी ये दोनों सीमित हाथों में केन्द्रीय होते हैं तो संघर्ष खड़ा होता है। उससे निपटाने का यही सबसे अच्छा उपाय है कि इन दोनों को इस तरह विकेन्द्रित कर दिया जाए कि न तो सत्ताशीर्ष पर कुछ लोगों का अधिकार हो और न पूंजी भी कुछ ही हाथों में सिमटकर रहे। शासक-विहीन शासन और पूंजीपति-विहीन पूंजी इसी लक्ष्य के चरम-बिन्दु हैं। इस चरम-सीमा तक न भी पहुंचा जा सके तो भी इस दिशा में प्रस्थान तो हो ही सकता है।

5. सहिष्णुता और करुणा - अहिंसा का अर्थ है—दूसरों के प्रति संवेदना। संवेदना से ही करुणा का भाव जागृत होता है। पत्थर में कोई संवेदना नहीं फूटती। वह तो चेतना में ही जागती है। जिस व्यक्ति में संवेदना जितनी ज्यादा होगी उसमें करुणा का उदय

भी उसी मात्रा में अधिक होगा। जिस आदमी में करुणा का भाव जागृत होगा वही पर्यावरण के प्रति सवेदनशील बनेगा। पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा तथा वनस्पति में भी जीव है। जो उनके प्रति संवेदनशील बन जाता है, वह प्राकृतिक परिवेश को जरा भी हानि नहीं पहुंचा सकता। वह न तो स्थूल 'स्थिर' जीवों को हानि पहुंचा सकता और न त्रस अर्थात् द्वि-इन्द्रिय आदि जीवों को हानि पहुंचा सकता है। मनुष्य के प्रति तो उसके मन में करुणा होगी ही। ऐसा व्यक्ति न तो शोषण कर सकता है और न मिलावट। अहिंसा का अर्थ ही है- चरित्र का ताना-बना। इसीलिए अणुव्रत अहिंसा का एक आन्दोलन है। चरित्र शुद्धि उसका फलित है।

6. आहार-शुद्धि - आहार मनुष्य की पहली आवश्यकता है। हवा और पानी की आवश्यकताएं यद्यपि आहार से प्राथमिक हैं। पर वे दुर्लभ नहीं है। आहार न केवल दुर्लभ है अपितु वह मनुष्य के व्यक्तित्व-निर्माण का प्रमुख घटक है। वह न केवल शरीर का ही पोषक है अपितु वृत्तियों के निर्माण में भी उसकी अहं भूमिका है। सन्तुलित आहार के अभाव में जहां एक ओर लाखों-करोड़ों लोग भूखे मरते हैं, वहाँ लाखों-करोड़ों लोग अधिक खा-खाकर मरते हैं। सचमुच दुनिया में रोटी भी एक भयंकर समस्या है। तामसिक आहार भी कोई कम समस्या नहीं है।

7. व्यसन-मुक्ति - नशे से तो न केवल आदमी का स्वास्थ्य ही बिगड़ता है अपितु चेतना भी सुप्त-लुप्त हो जाती है। उसी से अपराधों की एक अजस्र परम्परा शुरू हो जाती है। आज तो नशे से पूरी मानवता लहूलुहान हो गई। इसकी तीव्रता ने दुनिया की अर्थ-व्यवस्था को भी डांवाडोल बना दिया है। काले धन की और तस्करी की समस्या भी आज पूरे यौवन में है। ऐसी अवस्था में अणुव्रत-प्रेरित समाज-व्यवस्था में आहार-शुद्धि तथा व्यसन-मुक्ति को स्थान मिलना एक सहज बात है।

8. अल्पारंभ-अल्प परिग्रह - लोकतंत्र आज की मान्य शासन-पद्धति बन गई है। चुनाव इसका मुख्य आधार है। पर जब सत्ताशीर्ष पर कुछ लोग जमने की कोशिश करते हैं तो चुनाव में गंदगी का प्रवेश होता है। जिस दिन सत्ता और पूंजी पर लोक का स्वत्व हो जाएगा उसी दिन सच्चा लोकतन्त्र प्रतिष्ठित होगा। यही अहमिन्द्रता[1] तथा सच्चा समाजवाद होगा। निश्चय ही इस दृष्टि से एक नये अर्थतन्त्र को विकसित करना होगा। अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रह उस तंत्र के दो महत्त्वपूर्ण आधार बनेंगे। यह सारा हृदय-परिवर्तन से ही सम्भव है। केवल कानून या दंड के बल पर लोकतंत्र को संस्थापित नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो जन-जन की चेतना को जगाना पड़ेगा। जब लोक-चेतना जागृत होगी, तभी लोकतन्त्र विकसित हो सकेगा।

9. सापेक्ष-दृष्टि - व्यक्ति है तो व्यक्तित्व भी रहेगा। व्यक्तित्व की सबसे पहली अभिव्यक्ति है—विचार। विचार ही सम्प्रदाय तथा वाद के भेद के रूप में प्रकट होता है। यह सम्भव नहीं है कि सभी लोग एक ही तरीके से सोचें-विचारें। यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि सत्य इतना विविधमुख है कि उसे एक रूप में पहचाना ही नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में आवश्यक यही है कि उसकी अनेकमुखता को पहचाना जाए तथा उस पर सापेक्ष दृष्टि से विचार किया जाए। विचार का आग्रह जहां आदमी को असत्य के द्वार पर पहुंचाता है, यहां सापेक्षता उसे सत्य से साक्षात्कार कराती है। सापेक्षता के इस दर्शन से ही आदमी में वैचारिक सहिष्णुता का उदय हो सकता है। हमें इस बात का अधिकार है कि अपने विचार को सत्य मानें पर यह अधिकार नहीं हो सकता कि दूसरे के विचार को असत्य मानकर उसका तिरस्कार करें। सहिष्णुता का यह भाव ही असली धर्म है। यह सार्वभौम स्वीकृति ही सम्प्रदायों एवं वादों में सौहार्द स्थापित कर सकती है, अनेकता में एकता की अनुभूति करा सकती है।

10. परम्परा और प्रबोध - मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जहाँ समाज होता है वहां परम्परा भी आवश्यक होती है। हर परम्परा का अपना एक उपयोगी उत्स होता है। पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों देश-काल की स्थितियां-परिस्थितियां बदलती हैं, बहुत सारी परम्पराएं अपनी उपयोगिता को खो देती हैं। वे न केवल स्वयं ही रूढ़, बोझिल एवं बेमानी बन जाती हैं अपितु उनसे सारी समाज-व्यवस्था भी बीमार बन जाती है। इसीलिए अणुव्रत हर समय रूढ़ियों के परिष्कार के लिए आवाज उठाता रहा है। परम्पराओं से इनकार नहीं किया जा सकता, पर निरर्थक रूढ़ियों को ढोते रहना भी स्वस्थ समाज और राष्ट्र का लक्षण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अंध-रूढ़ियों के परिष्कार की सम्भावना को भी नकारा नहीं जा सकता।

बोध प्रश्न-2

---

1. निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर विस्तार से लिखिये —

(1) स्वस्थ समाज संरचना का आधार अणुव्रत है, सिद्ध करें।

(2) आचार्य तुलसी की दृष्टि में सामाजिक समस्याओं के मुख्य कारण कौन-कौन से हैं? व्याख्यायित कीजिये।

(3) स्वस्थ समाज की रचना के लिए अणुव्रत ने किन सूत्रों का उल्लेख किया है, क्या आप उनसे सहमत हैं? अपने विचार प्रस्तुत करें।

---

1. **अहमिन्द्रा**—स्वर्ग लोक की उस व्यवस्था का नाम है, जहाँ के सभी देव इन्द्र के तुल्य होते हैं। ऊँच-नीच, कम या अधिक अधिकार की बात वहाँ नहीं होती। सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं होता।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. भारतीय संस्कृति	डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल
2. समाज और संस्कृति	सावित्री चन्द्र शोभा
3. संस्कृति का इतिहास	रामगोपाल शर्मा
4. जीवन विज्ञान की रूपरेखा	मुनि धर्मेश
5. जीवन विज्ञान शिक्षा का नया आयाम	आचार्य महाप्रज्ञ
6. शरीर क्रिया विज्ञान	प्रमिला वर्मा
7. पर्यावरण अध्ययन	डॉ. टी.वी. सिंह
8. व्यक्तित्व का मनोविज्ञान	डॉ. जायसवाल
9. अनेकान्त है तीसरा नेत्र	आचार्य महाप्रज्ञ
10. लोकतन्त्र : नया व्यक्ति, नया मानव	आचार्य महाप्रज्ञ
11. विश्वशांति एवं अहिंसा-प्रशिक्षण	डॉ. बच्छराज दूगड़
12. परमाणुशास्त्र एवं विश्वशान्ति	सुबोध कुमार गुप्ता
13. अहिंसा और अणुव्रत	आचार्य महाप्रज्ञ
14. अणुव्रत इतिहास	देवेन्द्र कुमार कर्णावट, डॉ. महेन्द्र कर्णावट
15. आचार्य तुलसी का समाजदर्शन	डॉ. समणी हिमप्रज्ञा

Accredited with NAAC A Grade
12-B Status from UGC

Address: N.H.-9, Delhi Road, Moradabad - 244001, Uttar Pradesh
Admission Helpline No. : 1800-270-1490
Contact No. :+ 91 9520 942111
Email : university@tmu.ac.in